प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

चौथी बार : १९६१
मूल्य
एक रुपया

मुद्रक
सत्यपाल धवन
दी सैण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस
दिल्ली-६

सम्पादकीय

मूल मराठीका यह हिंदी-अनुवाद है। मूल विचारपोथी कोई पंद्रह साल पहले ही लिखी गई। तबसे उसकी कितनी ही नकलें हुईं। अन्य-भाषी भाइयोंने भी नकलें कर लीं और हिन्दी-अनुवादकी मांग की। पर जहां मूल ही नहीं छप सका, वहां उसका अनुवाद कैसे प्रकाशित हो सकता था ! लेकिन अब वह मांग सफल हो रही है।

अनुवाद कर तो लिया, लेकिन काम आसान नहीं था। विचार सूत्ररूपमें भले ही न हों, पर सूत्रवत् जरूर हैं। और फिर वे स्व-संवेद्य भाषा में उतरे हैं। इसलिए उनका अनुवाद करना, वाचक जान सकते हैं, कितना कठिन है ! मराठीकी तथा ग्रंथकारकी विशेषताओंके कारण भी कुछ कठिनाई बढ़ गई है। फिर भी मूलका यथातथ्य अनुवाद करनेकी पूरी कोशिश की गई है।

हमारे पुरातन ऋषि किसी तत्त्वको विस्तारसे तथा संक्षेपसे लिखनेमें सिद्धहस्त दीख पड़ते हैं। उनमेंसे जो तत्त्वको लौकिक भाषा-में विस्तारसे समझाते थे, वे व्यास कहलाये, और जो तत्त्वको परिमित अक्षरोंमें तथा शास्त्रीय ढंगसे लिखते थे, वे सूत्रकार कहलाये। ये दोनों प्रवृत्तियां परस्पर-पूरक हैं। दोनोंकी आवश्यकता होती है। पुराण-शैली जनताके लिए और सूत्र-शैली विचारकोंके लिए। विचारकोंको मनन, चिन्तन, अनुशीलनके लिए लंबा-चौड़ा ग्रंथ उपयुक्त नहीं होता। **'स्वल्पं सुष्ठु मितं मधु'** सूत्र-ग्रथन ही उनके लिए उपयुक्त है। इस ओर आजके साहित्यका ध्यान कम दीखता है। शायद 'विचार-पोथी' इस दिशामें मार्ग-दर्शक साबित हो।

वाचाऋण-परिहार नामवाली मूल मराठी विचारपोथीकी प्रस्ता-वना विनोबाने १९४२ की जेल-यात्राके पहले ही लिख दी थी। पर वह किसी कारण न दी जा सकी। वह पहली ही बार हिंदी-अनुवाद में जा रही है। आशा करता हूं, विचार-पोथीकी यह हिंदी-आवृत्ति हिंदी भाषावाले चिन्तन-शील सज्जनोंकी साहाय्यकारी होगी।

—कुन्दर दिवाण

वाचाऋण-परिहार

चिन्तनमें से प्रयोग और प्रयोगमेंसे चिन्तन, ऐसी मेरी जीवन की गढ़न बन गई है। इसीको मैं निदिध्यास कहता हूं। निदिध्यासमेंसे विचारोंका स्फुरण होता रहता है। उन विचारोंको टांक लेनेकी वृत्ति सामान्यतया मुझे नहीं होती। परन्तु मनकी एक विशिष्ट अवस्थामें एक समय यह वृत्ति उगी थी। सभी विचार नहीं लिखता था। थोड़े लिखता था। उनकी यह विचार-पोथी बनी है। सौभाग्यसे यह प्रेरणा बहुत दिन नहीं टिकी। थोड़े ही दिनोंमें अस्त हुई।

विचार-पोथी छापनेकी कल्पना नहीं थी। इसलिए वह 'पोथी' ठहरी। विचार भी बहुत-कुछ स्व-संवेद्य भाषामें उतरे। फिर भी जिज्ञासुओंने पोथीकी नकलें करना शुरू किया। इस तरह करीब डेढ़सौ नकलें इन बारह बरसोंमें लिखी गई होंगी। किंतु इन दिनों अशुद्ध लेखनका तथा खराब अक्षरों का प्रचार होने के कारण और मूल प्रतिका आधार सभी नकलोंको न मिलनेके कारण एक-एक नकलमें अपपाठ दाखिल होते गये। फलतः कुछ वचन अर्थहीन हुए। इसलिए आखिर यह छपी आवृत्ति निकालनी पड़ी।

ये विचार सुभाषित के समान नहीं हैं। सुभाषित के लिए आकार-की आवश्यकता होती है। ये तो करीब-करीब निराकार हैं। ये सूत्रके जैसे भी नहीं हैं। सूत्रमें तर्कबद्धता की आवश्यकता होती है। ये मुक्त हैं। फिर इन्हें क्या कहें! मैं इन्हें अस्फुट पुटपुटाना कहता हूं।

इन विचारोंको पूर्व श्रुतिओं का आलम्बन तो है ही। फिर भी वे अपने ढंग से निरालम्ब भी हैं। ज्ञानदेवकी परिभाषा प्रयुक्त करना अगर क्षम्य माना जाय, तो इसे एक वाचाऋण अदा करनेका प्रयत्न कह सकते हैं।

नालवाड़ी

विनोबा

विचार-पोथी

१

आध्यात्मिक व्यवहार याने स्वाभाविक व्यवहार याने शुद्ध व्यवहार।

२

हिन्दू धर्मका स्वरूप : आचार-सहिष्णुता, विचार-स्वातन्त्र्य, नीतिधर्मके विषयमें दृढ़ता।

३

आप्तोंकी सेवा, सन्तोंकी सेवा, दुःखितोंकी सेवा और द्वेषकर्ताओंकी सेवा—यह सर्वोत्तम सेवा।

४

असत्य में शक्ति नहीं है। अपने अस्तित्व के लिए भी उसे सत्यका आश्रय लेना अनिवार्य है।

५

सत्य, संयम, सेवा—यह पारमार्थिक जीवनकी त्रिसूत्री है।

६

जीव—अशुद्ध, असिद्ध।
आत्मा—शुद्ध, असिद्ध।
ईश्वर—शुद्ध, सिद्ध।

७

ईश्वर, गुरु, आत्मा, धर्म और सन्त ये पांच पूजा-स्थान।

८

मुझे हिन्दू धर्म क्यों प्रिय है ?—

(१) असंख्य सत्पुरुष—वामदेव, बुद्धदेव, ज्ञानदेव आदि।

(२) अनेक सामाजिक एवं वैयक्तिक संस्थाएं, संस्कार तथा आचार—यज्ञ, आश्रम, गोरक्षण आदि।

(३) शाश्वत नीतितत्त्व—अहिंसा, सत्य आदि।

(४) सूक्ष्म तत्त्वविचार—भूतमात्रमें हरि आदि।

(५) आत्मनिग्रहका वैज्ञानिक उपाय—योगविद्या।

(६) जीवन और धर्मकी एकरूपता—कर्मयोग।

(७) अनुभवसिद्ध साहित्य—उपनिषद्, गीता आदि।

९

ईश्वर शुभ भी नहीं और अशुभ भी नहीं है। अथवा वह शुभ भी है और अशुभ भी है। अथवा वह केवल शुभ है।

१०

अस्वाद-व्रतमें प्रगति कैसे पहचानें ?—

(१) प्रत्यक्ष स्वाद-संशोधन।

(२) शारीरिक स्वास्थ्य-संशोधन।

(३) कामक्रोधादि विकार-संशोधन।

(४) अज्ञान-संशोधन।

११

ध्यान षड्विध :

(१) आत्म-परीक्षण

(२) ईश्वर-चिन्तन

(३) वाक्यार्थानुशीलन

(४) नामस्मरण

(५) भगवल्लीलावगाहन

(६) सच्चरित्रावलोकन

१२

मन्त्र 'राम-कृष्ण-हरि'। राम सत्। कृष्ण चित्। हरि आनन्द। मेरा नाम मरे। रामनाम जीये। मेरा कुछ भी न हो। सबकुछ कृष्णार्पण हो। मेरी इच्छा जाय। हरिकी इच्छा रहे।

१३

सत्ताका अभिमान, संपत्तिका अभिमान, बलका अभिमान, रूपका अभिमान, कुलका अभिमान, विद्वत्ताका अभिमान, अनुभवका अभिमान, कर्तृत्वका अभिमान, चारित्र्यका अभिमान, ये अभिमानके नौ प्रकार हैं। पर 'मुझे अभिमान नहीं है' ऐसा भास होना इसके जैसा भयानक अभिमान दूसरा नहीं है।

१४

मैं कामहत हूं। मुझे पूर्णकाम कर, निष्काम कर, या आत्मकाम कर। यदि पूर्णकाम करेगा तो तेरे चरणोंपर अपना प्राण चढ़ाऊंगा; निष्काम करेगा तो बुद्धि चढ़ाऊंगा; आत्मकाम करेगा तो वह काम ही चढ़ाऊंगा।

१५

भजन (धुन) 'ज्ञानदेव कृष्ण। गीता कृष्ण'। इसकी तर्ज़ 'गोपालकृष्ण। राधाकृष्ण,' इस भजनकी-सी हो। भजन करते समय नीचे लिखी 'ओंवी' (एक मराठी छन्द) के अर्थका मनन हो:

"तेथ भजता भजन भजावें। हें भक्ति-साधन जें आघवें तें मी चि जालों अनुभवें। अखंडित ॥"

(भजता=भजन करनेवाला (कर्ता), भजन (कर्म) और भजावें=भजन करना (क्रिया)। आघवें=संपूर्ण, निःशेष। जालों=हुआ हूं।)

१६

मेरी एकादशी:

(१) अहिंसादि व्रत
(२) ईशप्रार्थना
(३) गीतार्थचिन्तन
(४) नित्ययज्ञ
(५) सेवाधर्म
(६) गोरक्षण
(७) उषोपासना
(८) मौनाभ्यास
(९) मातृस्मरण
(१०) भारतनिष्ठा
(११) आकाशसेवन

१७

मां, तूने मुझे जो दिया वह किसीने भी नहीं दिया। पर तू मरनेके पश्चात् जो दे रही है, वह तूने भी जीते-जी नहीं दिया। आत्माके अमरत्वका इतना ही प्रमाण मेरे लिए बस है।

१८

हमारी मांके कुछ वचन :

"विन्या, ज्यादा मत मांग। याद रख, थोड़ेमें गोड़ी (मिठास) और अधिकमें लबाड़ी (लबारो)।"

"मनुष्य अगर उत्तम गृहस्थाश्रम करे तो मां-बापका उद्धार होता है। पर उत्तम ब्रह्मचर्यका पालन करे तो बयालीस पीढ़ियोंका उद्धार हो जाता है।"

"पेटभर अन्न और तनभर वस्त्र—इससे अधिककी आवश्यकता नहीं।"

"देवादिकोंकी या साधु-सन्तोंकी कथाओंके सिवा दूसरी कोई कथाएं न सुननी चाहिए।"

"देश-सेवा की तो उसमें भगवान्की भक्ति आ ही जाती है। फिर भी थोड़ा भजन चाहिए।"

"अन्त्यज कोई नीच नहीं हैं। क्या भगवान् 'विठ्या महार' नहीं बना था!"

१९

इतिहास याने अनादिकालसे अबतकका सारा जीवन। पुराण याने अनादिकालसे अबतक टिका हुआ अनुभवका अमर अंश।

२१

अनुभव तर्कातीत है। श्रद्धा अनुभव के आधारपर रहने-वाली, पर उससे भी परेकी वस्तु है।

२१

मैं कहां रहना चाहता हूं ?

पहला जवाब—'कहीं भी'।

दूसरा जवाब—'सत्संगमें'।

तीसरा जवाब—'आत्मामें'।

२२

वेद जंगल है। उपनिषद् गायें हैं। गीता दूध है। सन्त दूध पी रहे है। मैं उच्छिष्टकी आशा रखे हूं।

२३

सुकरातका वचन है कि 'पापमात्र अज्ञान है'। उलटे ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'अज्ञान भी पाप ही है'। गीता अज्ञानको आसुरी संपत्ति कहती है, उसका अर्थ यही है। दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखें, यह सुकरातका वचन बतलाता है। खुदके अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखें, यह गीता बताती है।

२४

आत्मविषयक अज्ञान प्राथमिक अज्ञान है। मुझमें यह अज्ञान है, इसका भान न होना है 'अज्ञानका अज्ञान' या गणितकी भाषामें 'अज्ञानवर्ग'। मैं इस अज्ञान-वर्गमें शामिल हूं, इस बात से इन्कार करना है 'अज्ञान-घन'। इसीको विद्वत्ता कहते हैं।

२५

प्यार करनेवाली माता होती है इसलिए बालकका तुतलाना शोभा देता है। क्षमाशील भगवान् हैं, इसलिए मनुष्यका अज्ञान शोभा देता है।

२६

परिग्रहकी चिन्ता करें तो अन्तरात्माका अपमान होता है। परिग्रहकी चिन्ता न करें तो विश्वात्माका अपमान होता है। इसलिए अपरिग्रह सुरक्षित।

२७

इस लड़केको छोटेसे बड़ा 'मैंने' किया और बाकीके लड़के ? 'भगवानने मारे'—यह कैसे कहा जा सकता है ! या तो दोनों फल हम स्वीकार करें या दोनों भगवानको सौंप दें। सन्तोंने दूसरा मार्ग लिया है। जिसकी हिम्मत हो वह पहला मार्ग ले।

२८

"पाप-पुण्यकी बुद्धि ईश्वर ही देता है। उसे हम क्या करें !"

"हां, उसका अच्छा-बुरा फल भी वही भुगतता है। उसे भी तुम क्या करोगे !"

२९

कर्तृत्व-हीनतासे कर्तृत्व श्रेष्ठ। पर कर्तृत्वसे अकर्तृत्व श्रेष्ठ।

३०

पतिभावसे ईश्वरकी भक्ति करनेको 'मधुरा भक्ति' कहते हैं। मधुरा भक्ति याने ब्रह्मचर्य ; क्योंकि मधुरा भक्ति करनेवाला यदि पुरुष हो तो उसे अपना पुरुषभाव भूल जाना पड़ेगा। वह यदि स्त्री हो तो ईश्वरके सिवाय किसी भी पुरुषके विषय में उसके मन में पतिभाव नहीं रहेगा। पहले प्रकारका उदाहरण शुकदेव। दूसरे प्रकारका उदाहरण गोपी।

३१

साधन, छटपटाहट, अनुभव और उपकार।

३२

जिसके कामक्रोधोंका जो विषय, वही उसका विषय। 'कामक्रोध आम्हीं वाहिले विट्ठलीं।' —तुकाराम

(आम्हीं=हमने। वाहिले=चढ़ाये। विट्ठलीं=भगवानको।)

३३

शिष्यके ज्ञानपर सही करना, इतना ही गुरुका काम। बाकी, शिष्य स्वावलंबी है।

३४

$\frac{\text{सेवा}}{\text{अहंकार}}$ = भक्ति

३५

हमारी मां कहा करती, "देशे काले च पात्रे च' यह एक ढकोसला है; दयासे बर्ताव करना बस है।" मैं कहा करता था, "अपात्रको दान देनेमें दान लेनेवालेका भी अकल्याण है।" इस-पर उसका जवाब निश्चित था—"पात्र-अपात्र ठहरानेवाले हम कौन ! जो गरज़का मारा मांगने आये वह भगवान् ही होता है।"

३६

बर्तावमें बन्धन हो, उससे मन मुक्त रहता है।

३७

गीतामें हिमालयको स्थिरताकी विभूति बतलाया है। जिसकी बुद्धि स्थिर है वह हिमालयमें ही है।

३८

जिन्होंने रत्नोंकी लाखों रुपये कीमत ठहराई, वे उनकी 'अमूल्यता' गुमा बैठे। सन्त सच्चे रत्न-पारखी हैं; क्योंकि उन्होंने रत्नोंकी 'अमूल्यता' जान ली।

३९

उपनिषद्में वचन है, 'आकाश-शरीरं ब्रह्म'। भक्त भगवान-का नीलवर्ण मानते हैं। दोनोंका अर्थ एक ही है। भगवानके दर्शन बिना आंखें क्योंकर शान्त होंगी !

४०

शरीर-नाश नाश ही नहीं है। आत्मनाश होता ही नहीं। नाश याने बुद्धि-नाश।

४१

सूर्याजीसे मैंने डोर काट डालनेका तत्त्वज्ञान सीखा। मुझे उसका बहुत बार उपयोग हुआ है।

४२

संगीत और चित्रकलाका क्या उपयोग है? संगीतसे भगवान्‌का नाम गाया जाय। चित्रकलासे भगवानका रूप खींचा जाय।

४३

नाम-रूप मिथ्या होनेपर भी भगवानका नाम-रूप मिथ्या नहीं कहना चाहिए।

४४

नीतिमें क्या आता है?—नीतिमें क्या नहीं आता, यही सवाल है। 'निजों तरी जागे' (सोते समय भी हम जागते हैं।) यही अन्तिम नीतिसूत्र है।

४५

काम खतम होनेके बादका काम याने आनन्द।

'नीति जयांचिये जीए। लीलेमांजीं॥ (नीति जिनकी लीलामे जीती है।)

४६

मैं जब गीताका अर्थ थोड़ा-बहुत समझने लगा, उसके थोड़े ही दिन बाद मेरी मांका देहांत होगया। अर्थात् मुझे गीताकी गोदमें डालकर वह चल बसी। मां गीता! तेरे ही दूधपर अबतक मैं पला हूं और आगे भी तेरा ही आधार है।

४७

प्रवृत्ति रजोगुण। अप्रवृत्ति तमोगुण। इधर खाई, उधर कुआं।

४८

भगवान् ने हमारी आंखोंका रंग भी आकाश के समान नीला बनाया है। नीलकान्तका दर्शन ही उसका उद्देश्य रहा होगा।

४९

कमल याने अलिप्त पवित्रता।

५०

भक्त नम्र होता है। उसको भगवानके चरणोंका दर्शन पर्याप्त जान पड़ता है।

५१

दिनभर काम करनेवालेके लिए रातकी नींद जितनी आवश्यक और आनन्दकारक है उतनी ही जीवनभर मेहनत करनेवालेके लिए अन्तिम महानिद्रा आवश्यक और आनन्दकारक है। मृत्यु भगवानका सौम्यतम रूप है।

५२

संस्कृत में 'हन्' याने मारना और 'हन्' याने गुणना है। हिंसासे पापका गुणाकार होता है।

५३

शेवाळीं पावुनि जन्म ओंगळीं।
त्रासला चिळसला जीव अंतरीं॥
राहिलों निराळा म्हणुनी तेथुनी।
सवित्याचें मंगल किरण सेवुनी॥
मी अलिप्ततेचें गाणें गा तसें।
गा गा रे सखया तूं ही गातसें॥

५४

घेऊनी वामनरूप भृंग तो।
येतसे लुटाया मजला धांवुनी॥
परि हृदयाचें बलिदान देउनी।
जिंकिला कोंडिला केला गुंग तो॥

मी समर्पणाचें गाणें गातसें।
गा गा रे सखया तूं ही गा तसें ।।

(शेवाळीं—काईमें। ओंगळीं—अमंगल। चिळसला—सिहुर गया। निराळा—अलग। कोंडिला—बंदी बनाया। गुंग—अलमस्त। वामन और बलि शब्द श्लिष्ट हैं। ये दोनों रूपक हैं।)

५५

संध्याकी प्रार्थना याने अन्तकालका स्मरण है।

५६

मैं जब तुकाराम जैसोंकी भावना देखता हूं तब मुझे लगता है मेरी भावना उनके सामने कुछ भी नहीं है। पर उसको "मैं" क्या करूं!

५७

आत्मदर्शनके बिना आनन्द नहीं। मांको लड़केका चेहरा देखकर आनन्द होता है—इसका कारण उसे उस लड़केमें अपनी आत्मा दिखाई देती है।

५८

अत्युत्तम कल्पनाओंके विपर्यास अत्यन्त हीन होते हैं। यदि ताजे फलोंके समान आरोग्यकारक अन्न दूसरा नहीं है, तो सड़े हुए फलोंके समान आरोग्यनाशक भी नहीं है।

५९

गंडकीके पानीमें रहकर शालग्राम गोल चिकना होता है, पर गीला नहीं होता। उसी तरह सत्संगतिमें रहकर हम सदाचारी बनेंगे; पर इतना बस नहीं है। भक्तिसे भीगना चाहिए।

६०

स्वार्थ तो जानबूझकर ही नंगा है। मुख्य बात, परार्थसे बचना है।

६१

गीता अनासक्ति बताती है। परन्तु ईश्वर में आसक्त होनेको कहती ही है।

६२

हिरण्यकशिपुकी आज्ञा प्रह्लादने नहीं मानी, इसमें विशेषता नहीं है। व्यासका त्याग शुकको करना पड़ा, इसमें विशेषता है।

६३

स्वदेशी भूतदयाका शास्त्र है। स्वदेशीके माने ममता नहीं।

६४

बुद्धि और भावनाका जहां मेल नहीं दिखाई देता, वहां इन्द्रिय-निग्रहका का अभाव होता है।

६५

पराभक्ति याने समता, याने आत्मज्ञान, याने निर्विकारता।

६६

सगुण निर्गुण एक ही है। जो वस्तु एक अर्थमें सगुण, वही दूसरे अर्थमें निर्गुण हो सकती है। वैसे ही इसका विपरीत। उदाहरणार्थ, लोकसेवा सगुण और आत्मोद्धार निर्गुण है, यह भी सच है और इसका विपरीत भी सच है।

६७

सूर्य-ग्रहणमें यदि दुःखका कारण नहीं है, क्योंकि उसमें पृथ्वी और सूर्यके बीचमें चन्द्रके आनेसे अधिक और कुछ भी नहीं होता, तो मनुष्यको पानीमें डूबते समय चिल्लानेका भी कोई कारण नहीं है; क्योंकि वहां मनुष्यका नाक और बाहरकी हवाके बीचमें पानी आनेके अलावा और कुछ भी नहीं होता।

६८

सगुण उपासनामें नम्रता है। निर्गुण उपासनामें ज्ञानकी जिम्मेवारी है, और इसीलिए "क्लेश अधिक"।

६९

अपनी अन्नवस्त्रादि प्राथमिक आवश्यकताओंका भार दूसरे-

पर डालनेवाले गुलाम या लुटेरे लोग 'राष्ट्र' संज्ञाके पात्र नहीं हैं।

७०

'देशे काले च पात्रे च' का न्याय खुद अपनेको भी लागू है।

७१

अज्ञानमेंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

७२

दुर्बलका 'बलिदान' नहीं; बलिदान बलवान का.

७३

'बलिदान' कहते ही बलिका स्मरण हो आता है। बलिदान माने आत्मसमर्पण।

७४

कर्म करूंगा तो फल भी लूंगा, यह रजोगुण।

फल छोड़ूंगा, तो कर्म भी छोड़ूंगा, यह तमोगुण। दोनों एक ही हैं।

७५

'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।' क्योंकि, लोगोंको सेवाकी ज़रूरत रहती है, सो उन्हें भक्त मिल जाता है; भक्तको सेव्यकी जरूरत रहती है, सो उसे लोग मिल जाते हैं।

७६

रातको कुत्ते भौंकने लगे, उससे नींद खराब हुई, इस कारण भले आदमीको 'दुःख' हुआ। पर जब दूसरे दिन सवेरे मालूम हुआ कि उस भौंकनेसे आये हुए चोर भाग गए तब 'सख' हुआ।

७७

ब्रह्मचर्य पारमार्थिक साधन है। ब्रह्मचर्याश्रम परमार्थानुकूल सामाजिक संस्था है।

७८

यूरोपमें विभक्तराष्ट्र-पद्धतिका प्रयोग हो रहा है। हिन्दुस्तान में संयुक्तराष्ट्र-पद्धतिका।

७९

अकर्तृत्वके बिना अहिंसा, सत्य आदि व्रतोंका पूर्णपालन अशक्य है।

८०

ऐश्वर्य ईश्वरका विशेष गुण है। भक्तका वह अभिलषित नहीं है।

८१

सत्यकी परिभाषा नहीं है; क्योंकि परिभाषाका ही आधार सत्य है।

८२

छातीपर पिस्तौल अड़ाकर अनाज लूटनेमें और सोनेकी मुहर देकर उसको खरीद लेनेमें कई बार बिलकुल अन्तर नहीं होता।

८३

'समलोष्टाश्मकांचन;'—यह सच्चे अर्थशास्त्रका मुख्य सूत्र है।

८४

धर्म संसारसे मोक्षकी ओर ले जानेवाला पुल है। इसलिए उसका एक पैर संसारमें और एक पैर मोक्षमें होता है।

८५

सभी धर्म सत्यके अंशावतार हैं।

८६

सूर्यनारायण सत्यनारायणकी प्रतिमा है। सूर्योपासना सत्यदर्शनके लिए है।

८७

जीनेकी इच्छामें मृत्युका बीज है। जहां वह इच्छा गई, मृत्यु मरी।

८८

'अहं ब्रह्मास्मि' में 'तत् त्वमसि' का निषेध नहीं है।

८९

अहम्। सोऽहम्। नाहम्।

९०

पहले ज्ञान, फिर कर्म और अन्तमें भक्ति—यह मेरा अनुभव है। इससे भिन्न भी अनुभव हो सकता है। तीनों एकरूप हैं।

९१

व्यक्तके ज्ञानी साथीसे अव्यक्तका श्रद्धालु साथी श्रेष्ठ होता है। धर्मराजके साथ कुत्ता गया, पर अर्जन रास्तेमें ही गिर पड़ा।

९२

सेवा पाससे, आदर दूरसे; ज्ञान भीतरसे।

९३

गंगा कभी गंदली होती है, कभी स्वच्छ होती है, पर हमेशा पवित्र होती है। आत्मा गंगाके समान सदा पवित्र है। उसकी पवित्रता उसके अखंड बहते रहनेपर आधार रखती है।

९४

राम मर्यादाभूमि। कृष्ण प्रेमसमुद्र। हरि, जो कुछ बाकी रहा वह—अनन्त आकाश।

९५

कृष्णके जीते-जी उद्धवसे उसका वियोग क्षण-भरके लिए भी सहा नहीं जाता था। परन्तु कृष्णके मरनेपर वह उसका

वियोग पचा सका। अर्जुन कृष्णके जीते-जी उसका वियोग सह लेता, परन्तु उसके मरनेपर वह छटपटाने लगा।

९६

ध्यानसे कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ कहा है; क्योंकि ध्यानमें भी सूक्ष्म स्वार्थ हो सकता है।

९७

स्थूल विकार पक्की चट्टान है। वह भक्तिके झरनेको फूटने ही नहीं देता। स्थूल विचार जीत लेनेपर भक्तिका उद्गम होता है। लेकिन भक्तिका उद्गम होनेपर भी सूक्ष्म विकार शेष रहते ही हैं। कच्ची चट्टानमेंसे झरना बहता रहता है। इसलिए आवाज़ होती है। वही तड़पन है। जहां सूक्ष्म विकार भी नष्ट हुए, यह तड़पन गई। यही पराभक्ति है।

९८

'उसका मैं' इस अनुभवमें अहंकार नहीं है, लेकिन परोक्षता है। 'मेरा मैं' इस अनुभवमें परोक्षता नहीं है, किन्तु अहंकार है।

९९

भूतमात्रमें भगवान् दिखाई देने लगेगा, तब सन्त सेवाके लिए क्यों तरसते हैं, इसका रहस्य समझमें आयगा।

१००

ज्ञानदेवमें गुरु-भक्तिका उत्तम विकास हुआ। इसलिए उन्हें सृष्टि गुरु-रूप दिखाई देने लगी। उसमेंसे उनको दृष्टांत मिले। ज्ञानदेवकी मानी गई काव्य-स्फूर्ति उनकी गुरुभक्ति का स्वाभाविक परिणाम है।

१०१

जब 'इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' के न्यायका व्यवहार किया जाता है, तब इंद्र तो मरनेवाला होता ही नहीं; किन्तु तक्षक अलबत्ता अमर हो जाता है।

१०२

माताका बालकके सभी दोषों-सहित बालक प्रिय लगता है। वैसे ही भक्तको ब्रह्मकी सब उपाधियों सहित—जगतसमेत—ब्रह्म प्रिय लगता है।

१०३

स्वधर्म सहज-प्राप्त होता है। बालकको दूध पिलानेका धर्म माता मनुस्मृतिसे नहीं सीखती।

१०४

आत्माएं सभी हैं, पर आत्मावान् एकाध ही।

१०५

श्रुतिको द्वैतसे इतनी घृणा है कि आत्माकी बहुरूपता बतलाते हुए उसने दोका पहाड़ा छोड़ दिया है: "स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पंचधा, सप्तधा, नवधा......"

१०६

गाढ़ निद्रामें विचारोंका विकास होनेका मुझे बहुत बार अनुभव होता है। बोया हुआ बीज मिट्टीसे ढंक जानेसे लोप हुआ-सा लगता है, पर विकसित होता रहता है। वैसा ही यह दिखता है।

१०७

कोषके सभी शब्दोंका 'ईश्वर' ही एकमात्र अर्थ है।

१०८

विभूति, याने ईश्वरके चिन्तनीय भाव। वे सब अनुकरणीय होंगे ही, ऐसी बात नहीं है।

१०९

विरोधी-भक्तिके तीन प्रकार हैं: (१) नैष्ठिक नास्तिकता। (२) नैष्ठिक आसक्तता। (३) नैष्ठिक नीतिहीनता।

११०

एक मार्ग—पुण्यसे पापनाश,
अनासक्तिसे पुण्यनाश।
दूसरा मार्ग—पापसे पुण्यनाश,
अनुतापसे पापनाश।
भक्त और शाक्त।

१११

काम-क्रोधको आपसमें लड़ाकर मारने में ज्ञानकी कुशलता है।

११२

क्रोध भगवानपर, क्रोध अपनेपर, क्रोध क्रोधपर।

११३

'अन्तिम' ध्येय-वाद याने पुरुषार्थ-हीनता। 'अन्तिक' व्यवहार-वाद याने हीन पुरुषार्थ।

११४

एक कबीरपन्थी साधु बोला, 'मैं 'ओम्' नहीं जानता, 'सोम् (सोऽहम्) नहीं जानता और 'बोम्' नहीं जानता।"

ठीक है। तू ओम् नहीं जानता, फिर भी ओम् तुझे जानता है,

११५

'अद्वैत'—भूमिकामें पर-परीक्षण भी आत्म-परीक्षण हो जाता है। क्योंकि, तब भैंसेके पीठपर उठे हुए निशान भी हमारी पीठपर उठ आते हैं।

११६

प्रार्थना कर्तव्य, सूत कातना कर्तव्य, और भोजन भी कर्तव्य। तीनों यज्ञार्थ समझकर ही करता हूं। परन्तु पहले दोनों कर्तव्य करनेमें जो निःसंकोच भाव होता है वह तीसरा कर्तव्य करनेमें नहीं होता।

११७

विचार आगे दौड़ रहा है। आचार पिछड़ रहा है। परन्तु वह विचारोंकी दिशामें चल रहा है, कम-से-कम इतना बचाव अबतक था। अब वह भी नहीं रहा; क्योंकि विचार इतना आगे बढ़ गया है कि उसकी दिशा भी अदृश्य-सी हो गई है। ऐसी हालतमें बिना भगवानकी दयाके रक्षा नहीं है।

११८

ब्रह्मचर्य और अहिंसाको गीता शारीर-तप क्यों कहती है ?

इसलिए कि गीता न्यूनतम इतनी व्यवस्था चाहती है कि काम-क्रोधों के वेग कम-से-कम शरीरके तो बाहर न निकलें।

११९

चित्रकार जो चित्र बना रहा हो उसकी भी उसे नजदीकसे ठीक-ठीक कल्पना नहीं आती। उसके लिए उसे खास तौरसे दूर जाकर देखना पड़ता है। बिना तटस्थ वृत्तिके सृष्टि-रहस्य खुलना असम्भव है।

१२०

शत्रु पर प्रेम करना सुरक्षित है।

१२१

प्राप्त परिस्थिति चाहे जैसी हो, उसका भाग्य बना लेनेकी कला भक्तमें होती है। 'सर्व भाग्यें येती घरा। देव सोयरा झालिया।'—तुकाराम

(भगवानसे नाता हो जाय, तो सारे भाग्य घर पधारते हैं।)

१२२

गंगाका पानी लोटेमें रखकर वह लोटा सीलबन्द करके पूजाके लिए पूजा-घरमें रखते हैं। आत्मा इस गंगाके लोटेके समान है। परमात्मा गंगानदी-जैसा है। दोनोंकी पाप-निवारक शक्ति समान है। ताप-निवारक शक्तिमें अन्तर है।

१२३

आत्म-दर्शन मोक्षका आस्वाद लेना है । परमात्म-दर्शन मोक्षका पेट-भर भोजन करना है। पहली बातका अनुभव इसी देहमें हो सकता है, दूसरीका देहपातके अनन्तर।

१२४

हे गोपाल कृष्ण, मेरा अहंकार कालिया है। उसका सिर तू जब कुचलेगा तभी मुझे कालिया-मर्दनकी कथामें विश्वास होगा।

१२५

संसार के तीन लिंग :

अहंकार पुल्लिग, आसक्ति स्त्रीलिंग, असत्य नपुंसकलिंग।

१२६

डूबनेवालेसे सहानुभूतिके माने उसके साथ डूबना नहीं है; बल्कि खुद तैरकर उसको बचानेका प्रयत्न करना है।

१२७

वृत्ति निर्भय करनेके लिए प्राण-जयके प्रयत्नका उपयोग हो सकता है।

१२८

अर्जुनके रोम-रोमसे 'कृष्ण-कृष्ण' की एक ही ध्वनि निकलती थी। इस कारण लोगोंने उसका नाम कृष्ण रखा। गीताका श्रोता-वक्ता वही है।

१२९

चार महावाक्योंमें एक-से-एक चढ़ती चार अद्वैत-भूमिकाएँ सूचित की हैं :

प्रज्ञानं ब्रह्म—अद्वैत-ज्ञान।

अयमात्मा ब्रह्म—ईश्वर-साक्षात्कार।

अहं ब्रह्मास्मि—आत्मानुभव।

तत् त्वमसि—विश्वोद्धार।

१३०

हिन्दुधर्म में समूचे समाज-के-समाज निवृत्त-मांस पाये जाते हैं। यह एक उस धर्मकी विशेषता मानी जा सकती है। पर इतनी सावधानी आवश्यक है कि वह भूत-दयाकी प्रेरक बने, भेद-बुद्धिकी पोषक न हो।

१३१

अस्तेयसे मैं जगत जीतता हूं। अपरिग्रहसे उसका त्याग करता हूं।

१३२

'अपने ही घर जो चोरी करता है, वह एक मूर्ख' यह रामदास स्वामीका एक वचन है। कोई भी चोर 'अपने ही घर' चोरी करता है, इसलिए 'वह एक मूर्ख'।

१३३

सिंह हिंसक है, इसलिए उसे पीछे मुड़कर देखना पड़ता है। अहिंसकके लिए सिंहावलोकनका कोई प्रयोजन नहीं।

१३४

तेज और क्षमा एक-दूसरेकी व्याख्याएं हैं।

१३५

यदि और जब दूसरे से सेवा लेने में मेरा कल्याण हो, तो और तब मेरी सेवा करने में दूसरेका भी कल्याण होगा; और उसी प्रकार इसका उल्टा।

१३६

बचपनसे मुझे मुरली जितनी मधुर लगती है, उतना दूसरा कोई वाद्य नहीं लगता। मुरली हमारा राष्ट्रीय वाद्य है। गरीबसे अमीरतक सभीके लिए सुलभ है। रातके शान्त समय दूरसे मुरलीकी ध्वनि कानमें पड़ते ही भगवानके दिव्य चरित्र-का स्मरण हो आता है।

१३७

कछुवेके समान, कर्मयोगमें शान्त लेकिन निश्चित कदम भरने चाहिए।

कछुवेके समान मजबूत पीठ करके दुनियाके आघात सहने चाहिए।

कछुवेके समान विषयों से इन्द्रियोंको खींच लेना चाहिए।

कछुवेके समान दृष्टि प्रेम-भरी हो।

१३८

जिनको लोक-संग्रह करनेका उत्साह होता है, उनमें योग्यता नहीं होती और जिनमें योग्यता होती है, उन्हें हविस नहीं होती। लोक-संग्रहके इस पेंचमेंसे भगवान् ही छुड़ायें!

१३९

सात्त्विक आहारमें भी जो स्वाद उत्पन्न होता है, वह हिंसा है।

१४०

वेद जिसे ओम् कहते हैं, वह संतोंका राम है।

'राम-कृष्ण-हरि' ये उसीकी तीन मात्राएं समझी जायं!

१४१

जिसका 'भूत-मात्रमें हरि' का सूत्र छूटा, उसका भगवान् गुम गया।

१४२

स्मर्तव्यकी विस्मृति मानसिक आलसका लक्षण है।

१४३

स्वधर्मके प्रति प्रेम, परधर्मके प्रति आदर और अधर्मके प्रति उपेक्षा मिलकर धर्म।

१४४

रामके चरणोंका स्पर्श अयोध्यासे लंकातक असंख्य पत्थरों-

को हुआ होगा, पर उनमेंसे केवल 'अहल्याशिला' का ही उद्धार हुआ। उसी तरह अहल्याको भी असंख्य लोगोंके पांव लगे होंगे, पर रामके ही पादस्पर्शसे वह जागृत हुई। हम सब, सन्तोंके मार्गमें पत्थर होकर पड़ें; फिर अहल्या-राम-न्यायसे जिसका जब उद्धार होना होगा, तब होगा।

१४५

शिक्षण-शास्त्र 'अहल्या-राम-न्याय' रट ले; उससे अहंकार नष्ट होकर उसकी दृष्टि छन जायगी।

१४६

आत्म-संतोष और अल्प-संतोषमें अन्तर है। पहली आध्यात्मिक वस्तु है, दूसरी व्यावहारिक है। वह भली या बुरी भी हो सकती है। यदि भली होगी तो आध्यात्मिकताकी पोषक होगी।

१४७

ईश्वर सच्चा है, धर्म सच्चा है, संत सच्चे हैं; क्योंकि सत्य सच्चा है। वही ईश्वर, वही धर्म और वही सन्तोंका स्वरूप है।

१४८

असत्यसे सत्यकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, मृत्युसे अमृतकी ओर—यह साधक का उत्तरायण है।

१४९

श्रुति ब्रह्म ही बतलाती है और श्रुति ही ब्रह्म बतलाती है—ऐसा श्रुतिके विषयमें मेरा दोहरा विश्वास है।

१५०

हम साधनाकी चिन्ता करें, सिद्धिकी चिन्ता करनेमें साधना समर्थ है; अथवा इसीका मतलब, ईश्वर समर्थ है।

१५१

विरक्तोंकी कठोरतामें जो प्रेम देखता है, और आसक्तोंके प्रममें जो कठोरता देखता है, वही देखता है।

१५२

सामूहिक साधनामें व्यक्तिगत साधनाका कस परखा जा सकता है; और मनके कोने-कंगूरे घिसनेमें मदद होती है।

१५३

जब मैं देखता हूं कि मुझे बाहरसे कितना मिला, और मेरा खुदका अन्दरका कितना है, तब मेरा निजका कुछ भी नहीं रह जाता। 'इदं न मम' भावना करनेका मुझे कारण ही नहीं है।

१५४

मेरी त्रयी : माता, गीता, तकली।

१५५

वैदिक ऋषि जब 'मुझे चावल चाहिए, मुझे गेहूं चाहिए, मुझे मसूर चाहिए' आदि कहता है, तब उसके 'मैं' में त्रिभुवनका समावेश हुआ होता है।

१५६

पहाड़के समान ऊंचा होनेमें मुझे मजा नहीं आता। मेरी मिट्टी आसपासकी जमीन पर बिखेरी जाय, इसमें मुझे आनन्द है।

१५७

शास्त्रका कहना है कि ज्ञाता जड़ होकर रहे। जड़ होकर रहना अर्थात् कर्ममें बरतना।

१५८

तपमें तीन वस्तुएं हैं: (१) चित्त-शुद्धि, (२) निर्माणशक्ति और (३) ज्ञान। तप करते समय अन्तिम दोनोंके विषयमें अनासक्ति हो तो तीनोंकी प्राप्ति होगी।

१५९

इतिहासका अध्ययन, याने अपने पूर्व-जन्मोंका निरीक्षण।

१६०

डबरेमें या समुद्रमें होनेवाले विवाह अच्छे नहीं होते। विवाहके लिए नदी चाहिए।

१६१

प्रेमसे ही छाप ; अच्छी या बुरी, नीति अनीतिपर।

१६२

ज्ञान भी ज्ञानगम्य है ; याने पहलेसे ही ज्ञान हो तो आगे ज्ञानकी प्राप्त होगी।

१६३

असत्कर्मका सिर मार दिया जाय। सत्कर्मको जखमी किया जाय। सत्कर्मको जखमी करनेकी युक्तिका ही नाम है फल-त्याग।

१६४

प्राप्ति से प्रयत्नका आनन्द विशेष है।

१६५

आग्रह महत्त्वकी शक्ति है। उसे मामूली काममें खर्च कर देना ठीक नहीं।

१६६

उन्मनीसे परेका स्वैर मन—यही सहजावस्था।

१६७

केवल सवेरेका ही राम-प्रहर ? और बाकीके क्या हराम-प्रहर हैं ? भक्तोंके लिए समस्त समय समान रूपसे पवित्र होना चाहिए।

१६८

अपने पहले हुई तपश्चर्याको न गंवाते हुए आगे कदम बढ़ाना सुधारकका काम है।

१६९

अकरण, निषिद्ध, काम्यकर्म, फलाभिसंधि और अहंकार—

इन पांच बातोंका त्याग करनेका नाम संन्यास है। वही योग है।

१७०

आहार-विधान : (१) यज्ञ-शेष (२) सात्त्विक, (३) परिमित (४) अस्वादवृत्तिसे (५) भगवानको अर्पण करके, खायं।

१७१

कर्म छोड़ना असंभव हैं, क्योंकि छोड़ना भी तो कर्म है।

१७२

'संन्यास लेने का' कोई अर्थ ही नहीं होता; क्योंकि संन्यासका अर्थ ही 'न लेना' है।

१७३

सत्कर्मका आचरण करके उसमेंसे फल निकालनेका यत्न करना गंगामें डुबकी लगाकर गाद ऊपर उठानेके बराबर है।

१७४

'पुढे' 'मागें' (आगे-पीछे) मराठी भाषा में ये अव्यय दिग्दर्शक होते हुए भी कालदर्शक हैं। इन अव्ययोंसे समानार्थक अन्य किसी भी भाषाके अव्यय इसी तरह उभयदर्शक हैं। इससे मनुष्यके मनका झुकाव सहज प्रेरणासे दिक् और काल एकरूप माननेकी ओर प्रतीत होता है।

१७५

'जगत्के पहले क्या था ?' तेरे इस प्रश्नका अभाव था।

१७६

एक रज्जु-सर्पसे डरकर भागता है, दूसरा रज्जु-सर्पकी पिटाई करता है ; मतलब एक ही है।

१७७

संसारमें यदि भगवान् न मिलते हों तो उनके बाहर मिलनेकी आशा ही बेकार है।

१७८

जगत्के कारण 'जगत्के', आंखोंके कारण 'रूपका', बुद्धिके कारण 'ज्ञान', आत्माके कारण 'होता है।'

१७९

'आत्माका अस्तित्व' ये शब्द पुनरुक्त हैं; क्योंकि आत्माके माने ही अस्तित्व है।

१८०

भगवान्! मुझे न भुक्ति चाहिए और न मुक्ति; मुझे भक्ति दे! मुझे न सिद्धि चाहिए, न समाधि; मुझे सेवा दे!

१८१

जबतक अंदर-ही-अंदर धुंधुवा रही हो, तबतक प्रगट नहीं करनी चाहिए। सुलगने पर अपने आप दिखाई देगी।

१८२

विद्युत्स्फुरण साधकके लिए आश्वासन है। उतनेके ही भरोसे नहीं रहना चाहिए। जबतक सूर्य-प्रकाश न मिले, तबतक प्रयत्न जारी रखना चाहिए।

१८३

अमूर्त और मूर्तके बीचका एकमात्र जोड़—शब्द, याने वेद, याने नाम।

१८४

विद्यार्थियोंसे मैंने जितना सीखा, उसकी तुलनामें मैंने उनको कुछ भी नहीं सिखाया।

१८५

'नहीं चाहिए' नहीं चाहिए

१८६

भक्तके 'स्वारब्ध' नहीं होता है।

१८७

स्वतन्त्रतादेवी का उपासक तोतेको पिंजरेमें बंद नहीं रख सकेगा।

१८८

पूर्णिमाको कृष्णका मुखचन्द्र देखें। अमावस्याको कृष्णकी अंगकान्ति देखें।

१८९

कोई कर्मयोग को पिपीलिका और ध्यानयोगको विहंगम कहते हैं। मैं कर्मयोगकी ईसपनीतिके कछुएसे और ध्यानयोगकी खरगोशसे उपमा देता हूं। ध्यान करते-करते कब नींद लग जाती है, यह ध्यानमें ही नहीं आता।

१९०

"क्यों रे! तुझे नींद लगी है?" एक कहता है, "नहीं, अभी नहीं लगी।" दूसरा कहता है, "हां, कबकी लगी है।" ॐ कहिए या नेति कहिए, अर्थका 'नकार' ही है।

१९१

दुनिया मेरी प्रत्यक्ष सेवा कर रही है, लेकिन मैं तो दुनिया-की सेवाका नाम ले रहा हूं। अजामिल पापीका नारायणके नाम-से उद्धार हो गया। मालूम होता है, यह ईश्वरी संकेत है कि उसी तरह सेवाके नाम पर ही मेरा उद्धार हो जाय। नाम-महिमा अगाध है।

१९२

अद्वैत-'वाद', याने अचूक द्वैतसिद्धि।

१९३

स्वप्न नींदमें जागना है, और अनवधान है जागृतिमें सोना प्रायः ये एक दूसरेके कार्य-कारण होते हैं।

१९४

पादसेवन-भक्ति, याने सभी भूतोंकी सेवा। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि।'

१९५

'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!' निमित्त-मात्र होना, याने अहंकार छोड़कर ईश्वरके हाथका हथियार बनना। अर्थात्, यदि दाहिना हाथ थक जाय तो बाएं हाथसे लड़नेकी तैयारी रखना।

१९६

भक्त संसार, साधन और सिद्धि—तीनों भगवानपर छोड़ देता है।

१९७

आधि, व्याधि, उपाधि, समाधि—यह उपसर्ग-चतुष्टय है।

१९८

शून्यता=एकता=अनन्तता।

१९९

स्वरूप, विश्वरूप, अरूप—ये भगवान्के तीन रूप।

२००

वेद-प्रामाण्य, याने नीतिधर्मकी नित्यता।

२०१

मुझे सन्तोंके वचन पूज्य हैं, मेरी कल्पनाएं प्रिय हैं, सत्य प्रमाण है। मेरी कल्पनाओंके अनुसार बर्ताव करनेके लिए मैं बाध्य हूं; क्योंकि स्वधर्म अबाध्य है। परन्तु सन्तोंका आधार भी मैं छोड़ नहीं सकता। इसलिए मेरी कल्पनाओंका सन्तोंके वचनोंके साथ मेल बैठानेका कर्तव्य मुझे प्राप्त हो जाता है। सत्यधर्मपर दृष्टि स्थिर होनेके कारण ऐसा मेल करना मुझे कठिन नहीं पड़ता। सत्यसूर्यके प्रकाशमें सन्तोंके मार्गपर अपनी कल्पनाओं-के पांवोंसे चलनेका मैं प्रयत्न करता हूं।

२०२

साधना कहांतक करे ? जब वह अपने आप 'होने' लगे तबतक ।

२०३

हिमालय उत्तर दिशामे क्यों है? क्योंकि मैंने उसको उत्तर-में रहने दिया है। मैं कल उसकी उत्तर में बैठूं तो वह फौरन दक्षिणमें फेंका जायगा ।

२०४

साधकको स्वप्नपर भी चौकी देनी चाहिए। आत्मसंशोधनके लिए उसकी बहुत ज़रूरत है। हरिश्चन्द्रका उदाहरण ।

२०५

अनाहार, अल्पाहार, सहजाहार ।

२०६

'दुःखमित्मेव' त्याग उचित नहीं है। 'दुःखमिति' त्याग उचित हो सकता है ।

२०७

सर्वधर्मान् 'परि-त्यज्य' मामेकं शरणं 'व्रज'। भगवानने परिव्राजककी यह परिभाषा की है।

२०८

कोई कहते हैं, 'मनुष्य याने साधनवान् प्राणी।' मैं कहता हूं, 'मनुष्य याने साधनावान् प्राणी।'

२०९

सृष्टि याने एक अन्योक्ति है। देखनेमें सृष्टि और वास्तवमे भगवान् ।

देह—शव
आत्मा—शिव
जीवन—श्मशान

२११

हमें सन्तोंके चरित्रका नहीं, किन्तु चारित्र्यका अनुकरण करना चाहिए।

२१२

काव्यके हेतु :

हरिका यश गाना।
जीवनका अर्थ करना।
कर्तव्यकी दिशा दिखाना।
चित्तका मैल धोना।

२१३

जो वाणी सत्यको संभालती है, उस वाणीको सत्य संभालता है।

२१४

उपपत्ति, प्रतीति और प्रीति; अथवा सुनना, देखना और खाना।

२१५

सन्तोंने मोक्षको भी तुच्छ माना, उसमें दो हेतु हैं :

(१) मोक्षकी विकृत कल्पना पलटकर उसे उजालना और (२) साधनाका गौरव करना।

२१६

पुराणकारोंने काल्पनिक देवता खड़े करके उनकी स्तुति की। काल्पनिक राक्षसोंका निर्माण करके उनकी निन्दा की। इस प्रकार मनुष्यका नाम-उल्लेख किये बिना 'न म्हणे कोणासी उत्तम वाईट' अर्थात् 'किसीको भी भला-बुरा मत कहो' यह सूत्र संभाला और बालाबाल नीतिबोधका कार्य साध लिया। ये देव और राक्षस हम लोगोंके ही हृदयमें रहते हैं; इतना हमको जान लेना चाहिए।

२१७

कोई नाटककार जिस प्रकार स्वयं नाटक लिखकर उसके प्रयोगमें भी स्वयं शामिल हो जाता है, वही बात ईश्वरकी है। ईश्वर विश्वरूप नाटक रचकर, उसमें आत्माका पार्ट स्वयं करता है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'।

२१८

मनुष्य और पशुमें मुख्य विशेषता वाणीकी है। यदि पशुमें मनुष्यके जैसी वाणीकी कल्पना की जा सके तो उसी क्षण उसमें मनुष्यके समान विचारकी भी कल्पना की जा सकेगी। इसीलिए वाणी पवित्र रखना मनुष्यका स्वाभाविक कर्तव्य है।

२१९

वानप्रस्थाश्रम याने अनुभव, स्थिर वृत्ति और इंद्रिय-निग्रह।

२२०

आत्मप्रयत्न, वृद्धोंका आशीर्वाद, सन्तोंकी संगति, गुरुकृपा और ईश्वरी इच्छा- ये परमार्थके साधन हैं।

२२१

ईश्वरकी सत्ता याने आत्माकी अभग्ता, याने धर्मकी नित्यता, याने जीवन की आनन्दमयता।

२२२

अर्धोन्मीलित दृष्टि' याने :

'भीतर हरि, बाहर हरि'
'ब्रह्म-कर्म-समाधि'
'त्यक्तेन भुञ्जीथा:'
'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
'जाणोनि नेणते करी माझें मन' अर्थात्—
'जानता हुआ मेरा मन न जानता कर।'
'सन्त हंस गुन गहहिं पय,
परिहरि बारि बिकार।'

'स्याद् वा न स्याद् वा।'
'अद्वैत-भक्ति'

२२३

प्रार्थनामें आंखे बन्द करें तो नींद लगती है, खोलें तो एकाग्रता भंग हो जाती है। इसलिए अर्धोन्मीलित दृष्टि रखनी चाहिए।

२२४

घरमें आग लगी है और 'लोग क्या कहेंगे' यह सोचकर चिल्लाता नहीं है। इसे भी लोग क्या कहेंगे ?

२२५

व्यासने विष्णुसहस्रनाम लिखा। उसमें सबसे पहले—ॐकार-का उच्चार किया है। ॐ विष्णु-सहस्रनामका अति संक्षिप्त रूप है।

२२६

'अहं' आत्माका चिह्न है। 'अ-हं' याने 'न हन्यते' ऐसा मैं अर्थ करता हूं।

२२७

मुक्त राममें रमते हैं।
मुमुक्षु राममें मरते हैं।
मुमुक्षुके इस रामनामको 'उलटा जाप' कहते हैं।

२२८

मनुष्य जब जागकर थक जाता है, तब सोता है और सोकर थक जाता है तो जागता है। रजस् और तमस् ये एक-दूसरेके प्रतिफलित हैं।

२२९

गायत्री-मन्त्र व्यक्तिगत उपासना के लिए माना गया है। परन्तु 'धीमहि'—'हम ध्यान करते हैं'–यह बहुवचनी पद समुदाय-का सूचक है। अर्थात् गायत्री-उपासना व्यक्तिके करनेकी है,

परन्तु वह अपनेमें सर्व समुदायकी—विश्वात्माकी—कल्पना करके करनेकी है।

२३०

पाश्चात्य भाषाओंमें 'सन्तोंका अनुवर्तन' यह प्रयोग पाया जाता है। अपने यहां 'सन्तोंका गुणगान' कहते हैं। 'गुणगान' कहने में नम्रता है। पर उसमें यदि 'अनुवर्तन' गृहीत हो तभी वह नम्रता शोभा देगी।

२३१

ईश्वर आदर्शमूर्ति :
ध्येय, गेय, अनुकरणीय।

२३२

हमारे पास पांच इंद्रियां होने के कारण 'हमारी' दुनिया में पांच विषय हैं। वास्तवमें दुनियामें अनन्त विषय हैं। अथवा बिलकुल नहीं हैं।

२३३

'कला माने क्या ?'—यह प्रश्न पूछा जाता है; वास्तवमें, 'कला किस व्यक्तिकी या' 'किस चीजकी' ?—यह प्रश्न पूछा जाना चाहिए। उत्तर—'आत्माकी' ; अर्थात् अमर अर्थात् अतीन्द्रिय परन्तु बुद्धिग्राह्य। बुद्धिसे परे अकल आत्मा। कृति कला नहीं है। कृतिमें कला होती है या नहीं होती। हनुमानजी जब एकाएक मोती फोड़कर उसमें 'राम' है या नहीं, देखते थे तब वे उसमें आत्माकी 'कला' दिखती है या नहीं, यह देख रहे थे।

२३४

सात्त्विकता दो प्रकार की होती है : कर्तरि और कर्मणि। कर्तरि याने अपना जोर चलानेवाली। कर्मणि याने प्रवाहमें बहनेवाली। कर्तरि सात्त्विकता परमार्थोपयोगी है। कर्मणि सात्त्विकता 'संसार' अच्छा करती है।

२३५

"आत्मा कैसे सिद्ध होता है?" तेरे इस प्रश्नसे सिद्ध होता है। मेरा यह उत्तर यदि तुझे जंचे तो उस जंचनेसे सिद्ध होता है। अगर न जंचे तो उस न जंचनेसे सिद्ध होता है।

२३६

राजर्षि याने राजकारण परमार्थमय बनानेवाला। राजकारण, शब्द जीवनका उपलक्षण समझना चाहिए।

२३७

सात प्रमाण :

(१) कालात्मा, (२) स्व-बुद्धि, (३) अक्षिपुरुष, (४) सूर्यनारायण, (५) शब्दब्रह्म, (६) सत्यधर्म, (७) परमेश्वर।

इसका स्पष्टार्थ :

(१) यह भूलना नहीं चाहिए कि काल अनन्त है।
(२) जो अपनी बुद्धि कहे, उसके अनुसार करें।
(३) जबतक प्रत्यक्ष कृति में परिणत न हो जाय, तबतक प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए।
(४) मन खुला करें।
(५) संतोंके वचन रटें।
(६) सत्यके आचरणका प्रयत्न करें।
(७) ईश्वरकी करुणाकी याचना करें।

२३८

सत्संगति मेरी सारी साधनाका मूल है। यदि तत्त्वनिष्ठा विरुद्ध सत्संगति ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जाय—जो अशक्य है—तो तत्त्वनिष्ठा छोड़कर भी सत्संगति स्वीकार करनेकी ओर मनका झुकाव रहे, इतनी सत्संगतिके विषयमें आसक्ति मालूम होती है।

२३९

कोई कहते हैं, 'ईश्वर अज्ञेय है'। यदि अज्ञेय है, तो है काहेपरसे ? यदि है, तो अज्ञेय कैसे ?

२४०

प्रकृतिके हेतुके अनुसार माताका लड़केपर और बापका लड़कीपर परिणाम होना चाहिए। आत्मा हमेशा अपवादक है ही।

२४१

कर्म ज्ञानका जलावन है। ज्ञानाग्नि अखंड जलती रखनेके लिए उसमें कर्मरूपी जलावन निरंतर लगाते रहना चाहिए।

२४२

हमारा शब्दप्रमाण याने ऋषियोंका प्रत्यक्ष। इसलिए शब्द-प्रमाणको भी अनुभवकी कसौटीपर कसकर देखना उचित है।

२४३

सत्य=धर्म=ब्रह्म।

२४४

'न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।'
सूर्य—प्रत्यक्ष (चक्षुः)।
शशांक—अनुमान (मनः)
पावक—शब्द (वाक्)।

२४५

आत्मदर्शन जीवनका काव्य है।

२४६

फल तुझे पहले ही मिल चुका है। अब कर्तव्य करना बाकी है। फिरसे फल कैसे मांगता है ?

२४७

विश्व—प्रत्यक्ष-ब्रह्म। ईश्वर—अनुमान-ब्रह्म। वेद—शब्द-ब्रह्म। आत्मा—ब्रह्म।

२४८

अ-से-ज्ञ-तक सभी अक्षर ब्रह्मके प्रतीक हैं। परन्तु 'अ' और 'ज्ञ' विभूतियां हैं। 'ब्रह्म अ-ज्ञ है' ऐसी उपासना करें। इस उपासनासे भक्त नम्र हो जायगा।

१. अ-ज्ञ याने अनासक्त ज्ञान।
२. अ-ज्ञ याने वाङ्मय-मूर्ति।
३. अ-ज्ञ याने निर्गुण और सगुण दोनो।
४. अ-ज्ञ याने अजान। यह तो अर्थ प्रसिद्ध ही है।

२४९

अपरिग्रहकी कैंची ज्ञानपर भी चलानी चाहिए। व्यर्थ ज्ञानके ढेरोंका परिग्रह करना ठीक नहीं है।

२५०

आत्मा शक्यता-मूर्ति है। आत्माके लिए अशक्य कुछ भी नहीं है।

२५१

'साइन्स' की कितनी भी सूक्ष्म दूरबीन क्यों न लें, तो भी आत्माकी आवाज सुननेके लिए वह निरुपयोगी है।

२५२

पहला मंगल कौनसा ?—भगवान् विष्णुः।
दूसरा मंगल ?—गरुड़ध्वजः।
तीसरा मंगल ?—पुण्डरीकाक्षः।
चौथा मंगल ?—विष्णुसहस्रनाम देखो।

२५३

तप और तापके बीचकी विभाजक रेखा जानना ज़रूरी है।

२५४

अखंड ईश्वर-स्मरण याने अखंड कर्तव्य-जागृति।

२५५

ईश्वरशरणताकी मूर्ति फलत्याग।

२५६

मैं अनुभव करता हूं कि मेरी ईश्वरके लिए जितनी भक्ति है, उससे ईश्वरकी मुझपर कृपा अधिक है।

२५७

अभ्यास और वैराग्य एक ही वस्तुके विधायक तथा निषेधक अंग हैं।

२५८

पहला दर्शन—नृसिंह भगवान्।

दूसरा दर्शन—नृसिंह, प्रह्लाद दोनों—भगवान्।

तीसरा दर्शन—नृसिंह, प्रह्लाद, हिरण्यकशिपु—तीनों भगवान्।

चौथा दर्शन—नृसिंह, प्रह्लाद, हिरण्यकशिपु तीनोंके भी परे भगवान्।

२५९

मेरे लिए स्वधर्म ही आचरणीय क्यों? ममताके कारण नहीं, या इसलिए भी नहीं कि परधर्मसे वह श्रेष्ठ है; वरन् इस कारण कि मेरा उसीमें विकास है।

२६०

गुण अथवा दोष 'सकुटुंब सपरिवार आकर कार्यसिद्धि' करते हैं।

२६१

बढ़ईको जिस प्रकार भूमितिके सिद्धान्तोंका भय रहता है, उसी प्रकार सेवकको या साधकको अहिंसादि व्रतोंका भय रहना चाहिए।

२६२

कम-से-कम परिग्रहसे ज्यादा-से-ज्यादा कस कैसे निकालें, यह अपरिग्रह सिखाता है।

२६३

श्रद्धा+प्रज्ञा+वीर्य=सत्य ।

२६४

कल्याण सार्वजनिक है। वह व्यक्तिका 'निजी' नहीं हो सकता।

२६५

पहले प्रेम, फिर त्याग, अन्तमें शान्ति ।

२६६

सत्य याने सभी गुणोंका 'गुनिया'।

२६७

भक्तके पास ज्ञान न होनेपर भी नम्रता होनेके कारण ज्ञान प्राप्त करना उसके लिए सहज है।

२६८

शरीर निसर्गतः जैसे-जैसे जीर्ण होता जाय वैसे-वैसे प्रज्ञाकी कला बढ़ती जानी चाहिए। और जिस क्षण शरीर छूटे उस क्षणमें प्रज्ञाकी पौर्णिमा होनी चाहिए। इसे गीता शुक्लपक्षका मरण कहती है। इसके विपरीत शरीर के साथ प्रज्ञा क्षीण होते हुए मरण आना कृष्णपक्षका मरण है।

२६९

प्रश्न—ज्ञानेश्वरी तुम्हें कितनी प्रिय है ?

उत्तर—इतनी कि दोष दिखाना हो तो भी ज्ञानेश्वरीके ही दिखाता हूं।

२७०

दंभ सूक्ष्म है। वह ज्ञातरूपसे ही रहता है, ऐसा नहीं है। अज्ञातरूपसे भी रह सकता है। बहुत बार मनुष्य अनजानमें भी दंभ करता है।

२७१

'स्वप्न क्या दिखाता है ?'—(१) सृष्टिका मिथ्यात्व।

२. कल्पनाका कर्तृत्व ।

३. साधनाका अपूर्णत्व ।

२७२

यदि व्यष्टिका नीतिशास्त्र समष्टिके लिए लागू न होता हो, तो अद्वैत सिद्धान्त मिथ्या मानना पडेगा ।

२७३

(१) शब्दानन्द (२) कल्पनानन्द (३) अनुभवानन्द (४) श्रद्धानन्द ।

२७४

पानीसे रक्त गाढा भले ही हो; पर पानीकी पवित्रता पानी ही में है ।

२७५

मुझमें जो गुण है, वे मुझमें हैं, इसलिए दूसरेमें भी हों, ऐसी इच्छा होती है । मुझमें जो गुण नहीं हैं, वे मुझमें नहीं इसलिए दूसरेमें हों, ऐसी इच्छा होती है ।

२७६

गुरुकी खोज करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि गुरु स्वयं ही शिष्यकी खोज कर रहे हैं । शिष्यकी योग्यता प्राप्त करना-भर अपना काम है । अथवा यों भी कहा जा सकता है कि इसीका नाम गुरुकी खोज करना है ।

२७७

ज्ञानदेव योगी अवश्य थे, परन्तु उनके योगका भक्तिको 'साष्टांग' प्रणाम है ।

२७८

भगवान्में विश्वास याने दुनियामें विश्वास, याने आत्मामें विश्वास, याने सत्यमें विश्वास ।

२७९

सभी प्रवृत्तियोंका फल शून्य है; क्योंकि, आदिमें जैसे थे वैसे अन्तमें होना, इतनी ही सारी निष्पत्ति है ।

२८०

ध्यानके लिए आसन। विचारके लिए चलन।

२८१

वैदिक ऋषियोंको आत्मस्तुतिमें संकोच नहीं होता। आत्मरूप हुए ऋषि यदि आत्मस्तुति न करेंगे तो क्या अनात्म-स्तुति करेंगे!

२८२

संत तुकारामपर आरोप किया जाता है कि उन्हें गाली देनेकी बुरी लत थी। आरोप सच है। परन्तु मुझे उसमें संत तुकारामकी अहिंसाकी पराकाष्ठा दीख पड़ती है।

२८३

कर्तव्य और आनन्दका एकरूप होना अद्वैतकी एक व्याख्या है। परन्तु जबतक यह सिद्ध नहीं होता, तबतक कर्तव्यसे चिपटे रहनेमें कल्याण है।

२८४

समग्र साहित्यके अभ्याससे अथवा संपूर्ण विश्वके विज्ञानसे जो संतोष नहीं मिल सकता, वह आत्म-संशोधनसे मिलता है।

२८५

सद्भावसे साधनाका स्वांग ही किया जावे, तो भी हर्ज नहीं।

२८६

"कल्हाड़ीका डंडा कुलका बैरी" वाले न्यायके अनुसार मनुष्य-शरीरकी सहायतासे सारी देहें काट डालनी हैं।

२८७

रातका अंधेरा चिन्तनके लिए अनुकूल है। उसका उद्देश्य ही वह है। सोनेसे पहले थोड़ा समय चिन्तन करना उपयोगी है। चिन्तनमें दिनभरके आचरणका परीक्षण, जो दोष हुए हों उन्हें

फिरसे न होने देनेका संकल्प और उसके लिए ईश्वरकी प्रार्थना, ये तीन बातें ज़रूर होनी चाहिए। चिन्तनके वक्त संभव हो तो ध्रुव का दर्शन करें। ध्रुव निश्चयका देवता है।

२८८

जप याने भीतर न समानेवाले निदिध्यासका प्रकट वाचिक रूप—जपकी मेरी यह व्याख्या है।

२८९

दैवको अनुकूल करनेके लिए कौनसे साधन हैं ? (१) प्रयत्न (२) प्रार्थना।

२९०

रातको मैं मौन रहता हू। क्या इसी कारण अंधेरा मुझसे बात करता है ? वह कहता है, "मुझसे तेरा जन्म है। मुझमें ही तू लीन होनेवाला है। आज भी तुझपर मेरी ही सत्ता है।"

२९१

नम्रताकी ऊंचाईका नाप नहीं।

२९२

गुरु तीन प्रकारके होते हैं :

(१) 'जैसा जिसका अधिकार वैसा' उपदेश करनेवाले।
(२) उपदेशकी वृष्टि करनेवाले।
(३) मौनसे उपदेश करनेवाले

२९३

वेदार्थ स्पष्ट समझमें आता हो, घड़ी-भर समाधि लगती हो, नामस्मरणसे सात्त्विक भाव प्रकट होते हों—तो भी क्या हुआ ? जो आचरण में आवे वही सही।

२९४

उत्तरदायित्वपूर्ण काम जबसे मुझे मिला तबसे मैं उत्तरदायित्वसे मुक्त हुआ।

२९५

हम वैदिक ऋषियोंका आधार लेते है। वैदिक ऋषि उनसे पूर्वके ऋषियोंका आधार लेते हैं। इसपरसे "ज्ञान अनादि है" इतना ही निष्कर्ष समझना है।

२९६

रावण—रजोगुण
कुंभकर्ण—तमोगुण
विभीषण—सत्त्वगुण

२९७

परमार्थ यदि कठिन कहें, तो हम डरसे घर ही नहीं छोड़ते। अगर आसान कहें, तो बाज़ारमें खरीदनेके लिए दौड़ते हैं।

२९८

किसी-न-किसी नित्य-यज्ञके बिना राष्ट्र खड़ा नहीं रह सकेगा।

२९९

दुःख सहना तितिक्षाका आरम्भ है। तितिक्षाकी कसौटी सुख सहन करनेमें है।

३००

मराठी साहित्यका जन्म भी ॐकारसे ही हुआ है। ॐकारकी साढ़ेतीन मात्राओंको लक्ष्य करके ज्ञानदेवकी साढेतीन चरणोंकी ओवी (एक मराठी छंद) का निर्माण हुआ है।

३०१

आईना देखनेके लिए आईना, यह एक प्रकार; और मुंह देखनेके लिए आईना, यह दूसरा। प्रकार। उसी तरह वेदज्ञानके लिए वेदाध्ययन, यह एक प्रकार, और आत्मज्ञानके लिए वेदाध्ययन यह दूसरा प्रकार। इस दूसरे प्रकार को स्वाध्याय कहते हैं।

३०२

मननकी कमी अधिक श्रवणसे पूरी नहीं होगी।

३०३

जो कर्म बहुलायास है, वह सात्त्विक कर्म नहीं है। और स्वकर्म तो कतई नहीं है।

३०४

स्वधर्म या अपनी मर्यादा छोड़कर सेवाका लोभ करनेमें, और जो हानि होगी सो होगी ही; परन्तु जिस सेवाका लोभ किया, वह सेवा ही ठीक नहीं हो पाती, यह आपत्ति है।

३०५

बुद्धिका सदुपयोग—सत्त्वगुण।
बुद्धिका दुरुपयोग—रजोगुण।
बुद्धिका अनुपयोग—तमोगुण।

३०६

गंगा अपने नियत मार्गसे बहती है, इस कारण उसका लोगोंको ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग होता है। परन्तु अधिक उपयोगी होनेके लोभसे यदि वह अपना नियत मार्ग छोड़कर लोगोंके आंगनमेंसे बहने लगे, तो लोगोंकी क्या दशा होगी!

३०७

समुद्रकी लहरोंका अखंड आन्दोलन चलता रहता है; और साथ ही अखंड जप—ॐ! ॐ! ॐ!

'मामनुस्मर युद्धय च।'

३०८

'यह सामनेवाला दीपक है यह जितना निश्चित है, उतना ईश्वर है, यह क्या तुम निश्चितरूप से मानते हो?'

ईश्वर है, यह मैं निश्चितरूपसे मानता हूं। सामनेवाला दीपक है ही, यह मैं दावेके साथ नहीं कह सकता।

३०९

शकुंतलाके चरित्रमें शिक्षण और पूर्व-संस्कार का झगड़ा दिखाया गया है।

३१०

काव्यका नायक किसी व्यक्त रूपमें नहीं होता। काव्यके सभी व्यक्तियोंकी सामुदायिक अव्यक्त योग्यता ही काव्यका नायक है।

३११

(१) विचारहीन जीवन
(२) विचारमय जीवन
(३) विचार-जीवन
(४) निर्विचार जीवन

३१२

पारमार्थिक पुरुषकी दक्षता में उदासीनता होती है और उदासीनता में दक्षता होती है।

३१३

दक्षः—कर्मयोगी।
उदासीनः—ज्ञानी।
दक्ष उदासीनः—भक्त।

३१४

जो गुरु होगा वह शिष्य होगा ही। जो शिष्य न होगा वह गुरु हरगिज नहीं होगा।

३१५

गुरुको शिष्यके लिए पूज्यभाव होना चाहिए; क्योंकि शिष्यत्व गुरुत्वके लिए मातृस्थानीय है।

३१६

संसारकी ओर देखते समय आदर, प्रेम या करुणाके सिवा चौथी भावना उत्पन्न क्यों हो?

३१७

पासवालोंको रोष मालूम होनेके कारण जिसका पासवालों-प्रभाव नहीं पड़ता, उसका दूरवालोंको दोष मालूम न होने-

के कारण उनपर जो प्रभाव पड़ा-सा प्रतीत होता है, वह मृगजल है। मृगजल दूरसे ही देखना चाहिए।

३१८

रोज़की नींद मृत्युका 'पूर्वप्रयोग' है, ऐसा समझकर शास्त्र में बताई हुई प्रयाण-पद्धतिका नींदके वक्त अभ्यास करें।

३१६

सामनेके पेड़के पत्तोंमें जो वेदमंत्र पढ़ सकता है उसने वेदको समझा।

३२०

पहले आत्माको कोई देख नहीं सकता। अगर देख सका भी तो वह वाक्-शक्ति खो बैठता है—बोल नहीं सकता। यदि बोलनेवाला मिल भी जाय, तो सुननेवाला नहीं मिलता। और कुतूहलवश सुननेवाला भी प्राप्त हो जाय, तो भी समझनेके नामसे शून्य ही होता है।

३२१

ज्ञाता पुरुषके लिए इस संसारमें जीना भी दूभर है और मरना भी। इसलिए वह केवल शरीरसे जीकर मनसे मरता है।

३२२

प्रेम और वैराग्यमें सामंजस्य करना विवेकका काम है।

३२३

जागृतिमें मनकी तीन अवस्थाओंका मैं अनुभव करता हूं :

(१) भाविकता,
(२) नैतिकता,
(३) शून्यता।

३२४

'असंभूति'—कुवासनाओंकी अनुत्पत्ति और विनाश।
'संभूति'—सद्भावनाओंकी उत्पत्ति और विकास।

३२५

उत्तराभिमुख क्यों ? ऋषियोंका स्मरण तथा हिमालय और ध्रुवका चिन्तन। (यहां यह मान लिया है कि हम हिन्दुस्तान में हें)।

३२६

भक्तको कर्मयोगमें रुचि होती है, क्योंकि उसमें उसकी उपासनाकी भावना होती है।

३२७

कर्मठ उपासनाका भी 'कर्म' बनाता है। भक्त कर्मकी भी उपासना बनता है।

३२८

परकाया-प्रवेश याने दूसरेका मानस-शास्त्र जानना।

३२९

अहंकारको लगता है, अगर 'मैं' नहीं रहा तो दुनियाका काम कैसे चलेगा ? सच तो यह है कि मेरे ही क्यों, बल्कि सारी दुनियाके न रहनेपर भी दुनियाका काम चल सकता है।

३३०

स्वकर्ममें उपासनाकी दृष्टि न रही तो भी स्वकर्म अभ्युदय साधेगा; उपासनाकी दृष्टि कायम रही तो प्रत्यक्ष मोक्ष प्राप्त करा देगा।

३३१

आत्मा एक। माया शून्य। एक और शून्यके संयोगसे असंख्य संसार। यही लिंगोपसना है।

३३२

"मेरी स्थितिमें तुम क्या करोगे ?"

"तू करता है वही; क्योंकि तेरी 'स्थिति' में तेरी 'बुद्धि' आ हो जाती है।"

३३३

बुद्धिगत ज्ञान याने 'परोक्ष' ज्ञान। वही जब इन्द्रियोंमें उतरता है तब 'अपरोक्ष' कहलाता है।

३३४

सप्तर्षियोंकी आकृतिमें काश्मीर और हिमालयका भाग मुझे दिखाई देता है। यह भारतका उपलक्षण समझकर ऋषियोंके स्मरणके साथ 'दुर्लभं भारते जन्म' इस ऋषि-वचनका मैं स्मरण करता हूं।

३३५

ज्ञानावस्थामें भी भेदकी कल्पना करना याने रजोगुणकी चरम सीमा है।

३३६

जो बलवान वह बालक। ऊंचे-से-ऊंचा ध्येय भी जिसे अशक्य नहीं लगता वह बालक।

३३७
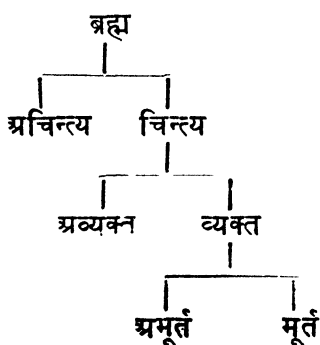
३३८

जो ईश्वरका क्रोध जानता है वह क्रोध-रहित होता है। जो ईश्वरकी क्षमा जानता है वह क्षमावान् होता है।

३३९

आधुनिक विज्ञान कहता है, सात वर्षके श्वासोच्छ्वाससे कायापलट हो जाता है।

धर्मशास्त्र कहता है, बारह वर्षकी तपश्चर्यासे चित्त धुल जाता है।

अध्यात्म कहता है, ब्रह्मज्ञानसे एक क्षणमें जीव मुक्त हो जाता है।

३४०

मेघागमनसे हृदय भर आता है, इसका कारण क्या यही नहीं है कि "नभासारिखें रूप या राघवाचें"—(इस रामका रूप नभके समान है।)

३४१

आत्मौपम्य सत्य। 'तौलनिक मनोविज्ञान' मिथ्या।

३४२

सेवा करते समय 'अ-कृत' भावना रहे। सेवा लेते समय 'कृत-ज्ञ' भावना रहे।

३४३

जो लोग ज्ञान आचरणमें लाये, उन्होंने ईश्वर 'मूर्ति-मान्' किया।

३४४

सत्त्वगुण निरहंकारितासे 'निःसत्त्व' किया जानेपर परम-श्रेयोरूप होता है।

३४५

इन्द्रियां न होतीं तो देहबद्ध पुरुषका दम घुट जाता। मुक्तको इन्द्रियोंकी जरूरत नहीं। घरका निबाह खिड़कियों के बिना नहीं होगा। खेतको खिड़कियोंसे क्या काम ?

३४६

शरीरमें चलनेवाली सभी क्रियाएं एक अर्थमें प्राण-क्रियाएं

ही हैं। परन्तु वाचिक क्रिया प्राणक्रियाका विशेष अर्थ है। इसलिए प्राणायामका रहस्य वाक्संयममें है।

३४७

(१) श्रवण-मननादि
(२) शम-दमादि
(३) यज्ञादि
(४) प्राणायामादि
(५) भजनादि

यह साधन-पंचक है।

३४८

परमार्थरूप बर्फीका कर्म वजन है, बुद्धि मिठास। वजनसे मिठास श्रेष्ठ है, परन्तु इसलिए वजन त्याज्य नहीं होता है।

३४९

मौनके अर्थ :

(१) वाक्-संयम
(२) सत्य-संग्रह
(३) शक्ति-संचय
(४) ध्यान-साधन

३५०

भगवत्-प्राप्तिके हेतु प्रवृत्त, भगवानका स्वमुखसे गाया हुआ प्रह्लादादि परम भागवतों द्वारा आचरण किया हुआ जो धर्म सो 'भागवत-धर्म'।

३५१

संन्यास नोट है;
कर्मयोग सिक्का है;
कीमत एक ही है।

३५२

बुद्धिसे ज्ञान होता है, पर धृतिके बिना आचरणमें नहीं आ सकता।

३५३

मर्यादाके भीतर अभिमान शोभा देता है। उपयुक्त भी है, क्योंकि अधिकृत है।

३५४

'पत्' याने 'गिरना', इसपरसे 'पति', 'पत्नी' शब्दोंका निर्वचन श्रुति करती है। पाणिनि 'पा' याने 'पालन करना' परसे इन शब्दोंका निर्वाचन करता है। पहली आध्यात्मिक निरुक्ति है, दूसरी शाब्दिक व्युत्पत्ति।

३५५

जहां नारियलके समान बाहर विरक्ति और भीतर भक्ति हो, वहीं प्राप्ति होती है।

३५६

अहंता, अस्मिता और एकता स्वतःसिद्ध है।

३५७

पांच उपासना :

(१) प्रियोपासना
(२) सत्योपसना
(३) समोपासना
(४) ज्ञानोपासना
(५) शान्तोपासना

३५८

छुटपनमें जब कोई गाली देता तो उससे कहा करता, 'मेरा तुझे हुक्म है कि मुझे गाली दे!' यदि वह गाली देना छोड़ दे, तो अपना काम हो गया। यदि उसी तरह जारी रखे, तो हमें

अपना हुकम माननेवाला एक नौकर मिल गया। ज्ञानी पुरुषकी ऐसा बालवृत्ति होती है। इसीका नाम है 'नराणां च नराधिप:'।

३५९

नीतितत्त्वोंका आधार जिसने ईश्वरपर रक्खा उसने गहरी नींवपर इमारत रची।

३६०

ईश्वर पृथक्करण—मंगल भाव।

३६१

आकार याने विकारका स्फोट।

३६२

गृहस्थ शिक्षक नहीं हो सकता ; क्योंकि वह अन्य कर्त्तव्यों-से बंधा हुआ और उच्च ध्येयके लिए भी अपूर्ण साबित होता है। संन्यासी आदर्श शिक्षक हो सकेगा, लेकिन संसारकी मालकियत-का, विद्यार्थियोंके 'हाथका' नहीं। इसलिए वानप्रस्थ ही विद्यार्थियों-के हकका शिक्षक रह जाता है।

३६३

दो धर्मोंमें कभी भी झगड़ा नहीं होता। सभी धर्मोंका अधर्मसे झगड़ा है।

३६४

संसारमें केवल ईश्वरकी इच्छा है ; और उसकी इच्छा है जिसकी इच्छा ईश्वरकी इच्छामें मिल गई है।

३६५

संत मोक्षस्पर्शी वैराग्य रखते हैं, इसलिए उनकी संगतिसे संसारको संसार-साधक (व्यवहार-साधक) संयम प्राप्त होता है। सूर्य उष्णतासे जलता है, इसलिए हमारे शरीरमें ९८ अंश उष्णता रहती है।

३६६

चेतनके जैसा चेतन होकर जड़ का मोह रखने, या जड़-हत हो जानेको क्या कहें ?

३६७

सच्चा अर्थशास्त्र, सच्चा आरोग्यशास्त्र, सब 'सच्चे' शास्त्र मोक्षानुकूल हैं।

३६८

सृष्टि याने भवगान की आरती। पूजा सांगोपांग हो चुकी है। हमारा नमस्कार-भर अब शेष रह गया है।

३६९

कल, आज और आगामी कलका आत्मा ही एकमात्र जोड़ है।

३७०

भगवान्के प्रेमालु स्वभावके कारण भगवान् जगत्पति।
संतोंके पुरुषार्थके कारण भगवान् सत्पति।
मेरी प्रार्थनाके कारण भगवान् मत्पति।

३७१

भवभूति कहता है, "फूलोंका स्थान पैरके नीचे नहीं, माथे पर है।"

सच है। लेकिन हमारे माथेपर नहीं, बल्कि वृक्ष-देवताके।

३७२

आजतक नहीं मरा, इसलिए आइन्दा भी नहीं मरूंगा, ऐसा अनुमान न कर! आजतक मरा नहीं हूं, इसीलिए अब आगे मरना पड़ेगा, ऐसा अनुमान कर!

३७३

यज्ञ 'इष्ट' कामधुक् है। अनिष्ट काम पूरे करनेवाला नहीं।

३७४

'विश्वनाथ' भगवान्‌का धंधा है । ,दीनानाथ' उसका धर्म है ।

३७५

मेरा कुछ नहीं है ।
सबकुछ मेरा है ।
मैं सबका हूं ।

३७६

प्रत्यक्ष तत्त्व छोड़कर, माने हुए लोक-संग्रहके पीछे नही पड़ना चाहिए ।

३७७

त्यागसे पापका मूल कर्जा अदा हो जाता है । दानसे पापका व्याज अदा होता है ।

३७८

गीतामें बतलाया हुआ 'अ-शास्त्रविहित घोर तप' कौन-सा है ?—विषयासक्त संसार ।

३७९

अर्थ कहता है, 'हककी रक्षा करना कर्त्तव्य है ।' धर्म कहता है, 'कर्त्तव्य करते रहना हक है ।'

३८०

साधन अल्प भले ही हो, लेकिन उत्कटता उबारेगी ।

३८१

कर्मके नियामक :
(१) प्रसंग, (२) प्रारब्ध, (३) प्रज्ञा ।

३८२

'कोऽहम्' के उत्तरपर कर्त्तव्यका निर्णय निर्भर है ।

३८३

'हवाका कमरा' नामका कोई अलग कमरा नहीं है । सभी

कमरोंमें हवा चाहिए। उसी प्रकार धर्म कोई अलग विषय नहीं है। सभी व्यवहारोंमें धर्म चाहिए।

३८४

पौधा जमीनमें लगानेपर उसे जमीनमेंसे पोषण मिलता है; उसी प्रकार चित्त आत्मामें गड़ा देनेपर उसे आत्मामेंसे पोषण मिलता है।

३८५

स्वधर्म निश्चित करना नहीं पड़ता; क्योंकि हम कुछ आकाशसे अचानक टपके हुए नहीं हैं। हमारे पीछे प्रवाह है। स्वधर्म इस प्रवाहसे निर्धारित होता है।

३८६

'भूतको भागवतका आधार' मिल सकता है, इसमें भागवतका भी दोष है ही।

३८७

सारे संसारकी एकता करनेकी कल्पनाका शोध करना आसान है। परन्तु स्वयं अपने मनका क्रोध जीतना मुश्किल है।

३८८

'राधा' माने निष्काम आराधना।

३८९

जहां पावित्र्य, वहां सौंदर्य। जहां सौंदर्य, वहां काव्य।

३९०

'धर्मादर्थश्च कामश्च' तंग आये हुए व्यासका वचन है। वे कहना चाहते हैं 'धर्मान्मोक्षः'।

३९१

आत्मशक्तिकी इयत्तापर ईश्वरशक्तिकी इयत्ता निर्भर है।

३९२

'पर' माने 'दूसरा', और 'पर' माने 'श्रेष्ठ'। दूसरेको अपनेसे श्रेष्ठ मानकर चलें, यह साधककी मनोभूमिका है।

३९३

आकाशमें जिस प्रकार भौतिक हवाएं चलती रहती हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक हवाएं भी चलती रहती हैं। इन हवाओं-का उद्गम मुक्त पुरुषोंसे होता है। इनके अव्यक्त स्पर्शसे बद्धोंके मुमुक्षु बनते हैं।

३९४

भक्त प्राणवृत्तिसे रहता है। अर्थात्, मनोवृत्तिसे नहीं रहता। निर्वासन होकर रहता है।

३९५

नृसिंहकी पूजा। प्रह्लादका अनुकरण।

३९६

जिस त्यागमेंसे अभिमान पैदा होता है, वह त्याग नही है। त्यागमेंसे शान्ति मिलनी चाहिए। मैंने विषैली वायुका त्याग किया, इसमें मैंने विशेष क्या किया! मैंने अपनी शान्ति प्राप्त की। आखिर, अभिमानका त्याग ही वास्तविक त्याग है।

३९७

मुकामको पहुंचनेकी उत्सुकताके कारण रास्ता विघ्नरूप मालूम होता है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि वह मुकामको पहुंचानेका साधन है। जल्दी पहुंचनेकी धुन हो, तो कदम तेजीसे उठाने चाहिए।

३९८

काम-क्रोधसे भी ज्ञान सिद्ध होता है। यदि हम इस ज्ञानकी विनय कर सके, तो काम-क्रोध शान्त हो जायंगे।

३९९

यतत् + विपश्चित् + मत्पर = स्थितप्रज्ञ।

४००

मनुष्य कितना ही विद्वान् क्यों न हो, यदि उसका ज्ञान देहमें समाता हो, तो उस ज्ञानका माप स्पष्ट ही है।

४०१

उपयोगिता धर्म का शरीर है, चित्तशुद्धि आत्मा।

४०२

ज्ञानदेवके शब्दों में गीता-तत्त्व 'नित्य-नूतन' है। जो नित्य-नूतन, वही सनातन।

४०३

साधक संसारकी स्मारक शक्ति बढ़ानेके उपाय खोजे।

४०४

अर्जुन पूछता है : 'इच्छा न होने पर भी मनुष्य पाप किस कारण करता है ?' भगवान् उत्तर देते हैं : 'इच्छा रहती है इसलिए करता है।'

४०५

वेद 'एकं सत्' कहता है, लेकिन साथ-साथ 'विप्रा बहुधा वदन्ति' भी कहता है। 'मूढा बहुधा वदन्ति', कहनेको वह तैयार नहीं है। इसमें वेदकी अविरोध-वृत्ति दिखाई देती है।

४०६

(१) चित्तशुद्धि, (२) देशसेवा, (३) विश्व-प्रेम, (४) देवपूजा।

४०७

'तव्य'—भावना सात्विक मनका एक रोग है।

४०८

"तुमसे भोग नहीं छोड़े जाते, तो कम-से-कम भगवान्‌के नामपर भोगो !" "तुमसे भोग नहीं छोड़े जाते, तो कम-से-कम भगवान्‌के नामपर मत भोगो !"

४०९

देह—तमस्, इन्द्रियां—रजस्, बुद्धि—सत्त्व; आत्मा—गुणातीत।

४१०

सिद्धियां दो प्रकारकी हैं :

(१) वैराग्य-साधक और (२) ऐश्वर्य-साधक । पहली मोक्षानुकूल है, दूसरी मोक्षविरोधी ।

४११

"तुम्हारे मतसे गीतामें बतलाये हुए 'पापयोनि' कौन हैं ?"—"मैं" ।

४१२

अध्ययनमें लंबाई, चौड़ाई और गहराई तीनोंकी अपेक्षा है ।

लंबाई—दीर्घकाल ।
चौड़ाई—नैरन्तर्य ।
गहराई—सत्कार ।

४१३

गुणवानकी उपासना यदि सगुण कही जाय, तो गुणोंकी उपासना निर्गुण कही जायगी ।

४१४

लक्ष्मी, शक्ति और सरस्वती (क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणकी) सुरक्षित देवियां हैं, अकेली सेवादेवी ही सार्वजनिक देवी है ।

४१५

सत्त्वोदय—बुद्धि ।
सत्त्वोत्कर्ष—इंद्रिय-जय ।
सत्त्वशुद्धि—भक्ति ।

४१६

"तेरा सो तेरा और मेरा, सो भी तेरा"—ऐसा अद्वैतका विनियोग है ; क्योंकि मेरा अद्वैत-ज्ञान मेरे लिए लागू है, दूसरेके लिए नहीं ।

४१७

आलस, अज्ञान और अश्रद्धा ये तीन 'महारिपु' हैं।

४१८

संसारकी गहराईसे मत डर! तुझे पृष्ठभागपरसे ही तैर-कर जाना है न? या भीतर डूबना है?

४१९

'सर्व-भूत-हित' निर्गुण-उपासना है। उसे नीतिकी बाहरी कसौटी समझकर उसकी 'जन-हित-वाद' से तुलना करना उचित नहीं।

४२०

लोकसेवा नम्र कर्त्तव्य है। लोकसंग्रह श्रेष्ठ अधिकार है।

४२१

'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—यह श्रुति है। इनमेंसे श्रोतव्यादि तीन द्रष्टव्यके साधन माने जाते हैं। लेकिन द्रष्टव्यादि तीनोंको निदिध्यासितव्यके साधन भी माना जा सकता है।

४२२

देहसंबद्धता—बद्ध।
देहव्यतिरिक्तता—बुद्ध।
देहातीतता—शुद्ध।
देहरहितता—मुक्त।

४२३

व्यापक विश्वसंस्था, मर्यादित मानव्य-संस्था तथा विशिष्ट शरीर-संस्था—मनुष्यकी तीन सहज संस्थाएं हैं। इन्हींसे बंधन है, इन्हींमेंसे मोक्षका रास्ता है।

४२४

सांकेतिक विज्ञान।
नैतिक विज्ञान।

भौतिक विज्ञान।
आध्यात्मिक विज्ञान।

४२५

पाणिनिका जो उत्तम पुरुष, वही भगवान्‌का पुरुषोत्तम।

४२६

सूर्यकी नहीं, अपितु जलसूर्यको भी प्रभा फैलती है। ज्ञानकी ही नहीं, अपितु ज्ञानके आभासकी भी कद्र होती है।

४२७

हिमालय सुन्दर है, लेकिन उसकी सुन्दरता-संबंधी मेरी कल्पना उससे भी सुन्दर है। इसका क्या कारण है? आत्माकी सुन्दरताकी बराबरी जड़-वस्तुकी सुन्दरता कैसे करे?

४२८

परोपकारके काम चित्तशुद्धि करेंगे, परन्तु यदि निरहंकार-वृत्तिसे किये गए हों तो।

४२९

'श्रुतिवचनको अर्थका बोझ नहीं होता', आचार्य कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि श्रुतिवचन चाहे जितना बोझ सह सकते हैं, यह नहीं कि चाहे जैसा बोझ सह सकते हैं।

४३०

ज्ञानकी ज्ञानगम्यता याने पूर्वजन्मकी सिद्धि—अर्थात् आत्माकी अमरता।

४३१

आसक्तोंकी आसक्तिसे आत्माके अमरत्वकी सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि आसक्ति भ्रमजनित है। विरक्तों की अनासक्ति आत्माके अमरत्वका वास्तविक प्रमाण है।

४३२

आजका लोकमत=दीनोंका मत,
जिसे कोई नहीं पूछता।

+दुर्जनोंका मत,
जो किसीको नहीं पूछता ।
+विद्वानोंका मत,
जिसमें मेल नहीं ।

४३३

कभी सत्यके लिए हिंसा और कभी अहिंसाके लिए असत्य ; इस तरह दोनोंको उड़ा देना तार्किकोंका व्यवसाय है ।

४३४

अहिंसादि होते हुए भी आत्म-ज्ञानका उदय नहीं हुआ, यह मैं मान सकता हूं ; परन्तु आत्मज्ञानोदय हो जानेपर भी अहिंसादि नहीं हैं, यह माननेमें मुझे कठिनाई होती है ।

४३५

गृहाभिमानके जाते रहनेपर गृहबंधन छूट जाता है । उसके लिए घर छोड़ना या गिरना नहीं पड़ता । उसी तरह देहाभिमानके जाते रहनेपर देहबंधन छूट जाना चाहिए । उसके लिए देह छोड़नेकी या गिरनेकी आवश्यकता नहीं ।

४३६

मांपरसे सन्तोंपर, सन्तोंपरसे ईश्वरपर, यह प्रेमकी ऊर्ध्व-गति है ।

४३७

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यं अतदर्थानाम्' जैमिनि-का यह सूत्र 'क्रियार्थत्वात्' की जगह 'दर्शनार्थत्वात्' इतना फर्क कर मैं पढ़ता हूं ।

४३८

ईश्वरसे साधर्म्य पाये हुए पुरुषपर विश्वके किसी भी आन्दोलनके सर्ग-प्रलयका परिणाम होना संभव नहीं है ।

४३९

भिन्न देवता एक ही देवताकी गुण-मूर्तियां हैं ।

४४०

शोधन-त्रयी:

(१) विचारशोधन,
(२) वृत्तिशोधन,
(३) वर्तनशोधन।

४४१

अप्रतिकार कहते ही उसमें अपुरस्कार गृहीत समझना चाहिए।

४४२

साधु-संतोंको भी हम 'भोग्य' बनाना चाहते है। लेकिन वे हमें हजम होने लायक नहीं होते, इसका हमारे पास कोई इलाज नहीं होता।

४४३

पिछला 'पशु' पसन्द नहीं आता, अगला मनुष्य अभी बना नहीं है। बीचकी इस भयानक साधकावस्थाको मैं साधनाका नृसिंहावतार कहता हूं।

४४४

मुझे कुहरा दूसरी तरफ दिखाई देता है। दूसरेको कुहरा मेरे पास नज़र आता है। वास्तवमें कुहरा सभी तरफ है। मुझे दूसरेकी स्थितिमें सन्तोष दिखाई देता है। दूसरेको मेरी स्थितिमें सन्तोष दिखाई देता है। वास्तवमें सन्तोष सर्वत्र है। परन्तु उसकी पहचान-भर होनी चाहिए।

४४५

जीवनमें भय रखनेसे मरण निर्भय होगा।

४४६

छुटपनमें गणेशजीका विसर्जन करते समय चित्तपर बड़ा आघात होता था। इतने प्रेमसे जिसकी स्थापना की, इतने दिन पूजा की, उसे पानीमें डूबो देनेकी कल्पना सही नहीं जाती थी।

लेकिन मूर्तिपूजाकी मर्यादा सिखानेके लिए हिन्दूधर्मने इस पदार्थ-पाठका निर्माण किया है।

४४७

'भीष्म' और 'विभीषण' दोनोंका अर्थ भयंकर है। किसीको भीष्म स्वपक्षनिष्ठ और विभीषण देशद्रोही मालूम होता है, तो किसीको भीष्म सत्यद्रोही और विभीषण सत्यनिष्ठ मालूम होता है। परन्तु मनुष्योंकी योग्यता कूतनेकी पुराणकारोंकी कसौटी कुछ निराली ही जान पड़ती है; क्योंकि वे दोनोंको 'परम भागवत' कहते हैं।

४४८

नये राजाके साथ नया सिक्का आ ही जाता है। उसी प्रकार नवीन दर्शन आते ही उसके साथ भाषा भी नवीन बनती है।

४४९

'मैं ज्ञानी' यह भी अहंकार, और 'मैं मूढ़' यह भी अहंकार।

४५०

शास्त्रार्थ का लाग-लगाव (अर्थ-लापनिका) कलियुगका बड़ा पाप है।

४५१

मनुष्य पहले दरिद्री होता है। द्रव्य बादमें आता है। पहले प्राप्ति, बादमें फल। 'मरनेके पहले ही मरकर रहा' (मरणा-आधीं राहिलों मरूनि) का यही अर्थ है।

४५२

भक्त प्रवाहपतित साधनोंका प्रयोग कर छुट्टी पाता है। योगी साधनाके लिए अनुकूल प्रवाह बनाता है। दोनोंको दोनों बातें यथासंभव करनी पड़ती हैं।

४५३

कर्मयोगी—जलाया हुआ आकृति-मात्र कंडा।

संन्यासी—जलाकर खाक किया हुआ निराकार कंडा।

४५४

कर्मयोगी—सफेद दूधवाली काली गाय।
संन्यासी—सफेद दूधवाली सफेद गाय।

४५५

कर्मयोगी—सूर्यके समान अखंड कर्म करता है।
संन्यासी—सूर्यके समान अखंड अकर्ता होता है।

४५६

जनता जड़ भले ही हो, परन्तु वह थर्मामीटरकी तरह अचूक योग्यता-मापक है।

४५७

पहले आश्रममें एक भैंस थी। वह अपने बच्चेको दूध पिलाती थी, उसी तरह दूसरे भैंसोंके बच्चोंको और गायोंके बछड़ोंको भी दूध पिलाती थी। कोई उसे जड़ कहते हैं। मैं उससे समत्वबुद्धि सीखा।

४५८

उत्तरोत्तर अनुद्भूत चैतन्यको श्रेष्ठतर माननेके लिए भी कारण है।

४५९

ऋषियोंकी समत्व-बुद्धिका परिणाम संस्कृत भाषाकी उच्चारण-पद्धतिमें भी दिखाई देता है।

४६०

ज्ञानके बाद होनेवाला कर्म केवल आभासरूप है। परछाईं-के कारण मनुष्यके एकांतमें कोई बाधा नहीं आती, उसी तरह उस छायारूप कर्मसे ज्ञानके एकांतमें बाधा नहीं आनी चाहिए।

४६१

प्रजापतिका मंत्र—'द'।
देवोंका अर्थ—दमन करो।
असुरोंका अर्थ—दया करो।

मनुष्योंका अर्थ—दान करो।
मेरा अर्थ—दगड़ (पत्थर) बनो।
"स एषोऽश्माखरण:"

४६२

वेदमंत्रसे भी नामकी महिमा अधिक है। नाममें अमर्याद शक्ति भर सकते हैं।

४६३

वैराग्य एक पलड़ेमें और दूसरी सारी सात्त्विकता दूसरे पलड़ेमें डालकर जब तौला तो वैराग्य भारी निकला।

४६४

वाल्मीकिकी प्रतिभा, व्यासकी प्रज्ञा और शुकके प्रेमका जोड़ करें, तो वह ईश्वरत्व गिननेकी एक छोटीसी इकाई हो सकेगी।

४६५

स्वप्नमें होनेवाले सुख-दु:खोंके अनुभवोंपरसे मरनेके पश्चात् जीवको सूक्ष्म देहमें भुगतने पड़नेवाले सुख-दु:खोंकी कल्पना हो सकती है।

(१) मरण—निद्रा।
(२) सूक्ष्मदेह—स्वप्न।
(३) स्वर्ग—स्वप्नगत सुख।
(४) नरक—स्वप्नगत दु:ख।
(५) ब्रह्मलोक—सुषुप्त।
(६) पुनर्जन्म—पुनर्जागरित।

४६६

रामावतारमें भगवान्ने यथेष्ट सेवा ली। कृष्णावतारमें यथेष्ठ सेवा की।

४६७

यदि किसीको किसी भी उपायसे पृथ्वीके आकर्षणके बाहर

पहुंचाना संभव हुआ, तो वह अपने-आप मंगलपर जावेगा, ऐसी एक वैज्ञानिक अपेक्षा है। किसी भी उपायसे अगर वासनाके आकर्षणके बाहर जाया जा सके तो अपने-आप परम मंगलकी प्राप्ति हो सकेगी, इसमें सन्देह नहीं।

४६८

गोलाकार घूमनेवालेके लिए मुकामकी जगह कहीं भी नहीं है, या फिर जहां बैठा हो, वहीं है

४६९

रूपकादिकी संभावना अद्वैतका नैसर्गिक प्रमाण है। उपासना-का आधार भी इसी अद्वैत-प्रामाण्यपर है।

४७०

प्रवृत्तिका विरोध करनेवाली निवृत्ति वास्तविक निवृत्ति नहीं है। वह प्रवृत्तिका ही एक प्रकार है। प्रवृत्तिको जो सहज अपने-आपमें समाविष्ट कर सके, वह निवृत्ति है।

४७१

वैराग्य याने मारा हुआ रजोगुण। परमार्थके अन्तर्गत सारी उबाल वैराग्यकी बदौलत है।

४७२

पापके खिलाफ चार शक्तियां अपने-अपने बल के अनुसार लड़ रही हैं—(१) पुण्य, (२) भोग, (३) प्रायश्चित्त, (४) आत्मज्ञान।

४७३

सत्यके विरोधमें जो कुछ खड़ा रहेगा, वह सहज ही मिथ्या होगा।

४७४

धनुर्धारी रामने यज्ञमें विघ्न करनेवाले राक्षसोंसे ऋषियों-की रक्षा की; यह केवल ऐतिहासिक ही नहीं, अपितु त्रैकालिक सत्य है।

४७५

अन्नैषणाका नियमन यज्ञका उद्देश्य है।

४७६

बुद्धि आत्मदर्शनका महाद्वार है। बुद्धि खोलते ही भीतर आत्मा खड़ा ही है।

४७७

देवताका स्वरूप आध्यात्मिक होता है। यथा : सूर्यदेवता—प्ररणा, आपोदेवता—श्रद्धा, गृहदेवता—स्थिरता, वनदेवता—स्वतन्त्रता। यह न समझकर श्रद्धापूर्वक पूजा करनेवालेको सामान्य चित्तशुद्धि प्राप्त होगी, परन्तु विशिष्ट चित्तशुद्धि देवताके स्वरूप-ज्ञानपर निर्भर है।

४७८

सिद्धि शुद्धिकी कसौटी । इस कसौटीमें कई जन्म निकल जाना भी संभव है। रोगीको मालूम होता है कि बुखार ज़ोर से चढ़ रहा है, फिर भी बुखार ठीक कितना है, इसका पता तो थर्मामीटर से ही चलता है।

४७९

वस्तुका आकार उसके अन्तिम किनारोंसे निश्चित होता है। गर्भवास और मरणकी दुःखमयता मानी जावे, तो संसारकी दुःखमयता अनायास ही सिद्ध हुई; क्योंकि गर्भवास और मरण ही संसारके दो किनारे हैं।

४८०

जिस प्रकार आज हम सत्याग्रहका सामुदायिक प्रयोग करना चाहते हैं, उसी तरह संन्यासतत्त्वका सामुदायिक प्रयोग करना संन्यासाश्रमका उद्देश्य है। व्यक्तिगत प्रयोगकी विशिष्ट उज्ज्वलता सामुदायिक प्रयोगमें न हो, फिर भी उसमें एक तरहकी व्यापक उज्ज्वलता होती है।

४८१

पिछले गुण-दोषोंके स्मरणसे आत्माका अपमान न हो, इसलिए ईश्वरने पूर्वजन्मके विस्मरणकी योजना की है।

४८२

संसारकी समुद्रसे उपमा दी जाती है। समुद्रमें गिरे हुए मनुष्यको जिस प्रकार आगामी क्षणकी राह देखे बिना वर्तमान क्षणमें ही तैरना चाहिए, उसी तरह संसारमेंसे छूटनेका प्रयास भी वर्तमान क्षणमें ही करना चाहिए।

४८३

कर्म, याने प्रत्यक्ष सेवा।

भक्ति याने सेवाभाव।

४८४

मुरलीकी ध्वनि मुझे कृष्णस्मरणसे समाधिस्थ करा सकती है। परन्तु—

(१) अंधेरी रात हो।

(२) कौन बजाता है, यह मालूम न हो।

(३) ध्वनि दूरसे आती हो।

इसका कारण है अव्यक्त की सामर्थ्य !

४८५

मनमें वासना उदय होनेपर भी तन्मूलक बाह्य कर्म यदि निश्चयपूर्वक टाला जाय, तो वासना जोर नहीं पकडेगी।

४८६

वैराग्यकी विवेकयुक्तता ही वैराग्यकी दृढ़ता

४८७

समुद्रका दृश्य आनन्दमय है। लेकिन किनारेपरसे देखनेवालेके लिए, भीतर डूबनेवालेके लिए नहीं।

४८८

पहाड़पर जितना ऊंचा चढ़ें, उतना ही दृश्य अधिक भव्य

दिखाई देता है। आचरणकी उच्चतापर विचारोंकी भव्यता निर्भर होती है।

४८९

शाश्वत प्रकारकी सेवा कभी उंगलीसे दिखाने-जैसी नहीं होती।

'अक्षरं अनिर्देश्यम्।'

४९०

निर्गुणके कारण सगुणकी उचित मर्यादा रहती है। यदि वह न रही तो सगुण सदोष बनेगा।

४९१

विश्व सोया हुआ विष्णु ही है। उसे प्रेमादरपूर्वक विनय करके ही जगाना चाहिए।

४९२

जो अर्थ शब्द और तत्त्वके अनुसार हो, वह वास्तविक है। ऐसा अर्थ 'शाब्दे परे च निष्णात' ही जान सकता है।

४९३

योद्धा और राजनीतिज्ञके मिलापसे युद्धमें सफलता होती है। सत्याग्रहके युद्धमें अहिंसा योद्धा है और सत्य राजनीतिज्ञ।

४९४

पृथ्वीको शेषका आधार याने पृथ्वीको पृथ्वीतरका आधार। सांपके समान मालूम होनेवाले परार्थका मेरे स्वार्थको आधार है, यह मुझे जानना चाहिए।

४९५

राजस चंचल होता है, यह राजसका बड़ा उपकार है। यदि वह स्थिर होता तो अनर्थका पार न रहता।

४९६

सत्त्वगुणके बिना एकाग्रता नहीं। तमस् शून्याग्र और रजस् अनेकाग्र है

४९७

लड़का मरनेपर बाप बिना मरे ही मरता है। रजस् तमस् निःशेष होनेपर सत्त्वगुण बिना मरे ही मरता है।

४९८

कताई अच्छी तरह चलती होती है, तब चरखेमेंसे 'ॐ' 'ॐ' की ध्वनि अनाहत रूपसे निकलती रहती है। जब कुछ बिगड़ जाता है तो 'नेति-नेति' की पुकार होती रहती है।

४९९

गायत्री आदि मंत्रोंका 'उपांशु'-जप विहित है। अर्थात् ये मंत्र धीमी आवाजमें मन-ही-मन, मानो अपने आपसे कहे जा रहे हों इस प्रकार, जपने होते हैं। अर्धोन्मीलित दृष्टिका जो उद्देश्य है वही इस उपांशु-जपका उद्देश्य है।

५००

सर्वोच्च तत्त्व सर्वव्यापक और सर्वोपयुक्त होनेके कारण सर्वसुलभ होते हैं।

५०१

कृष्णको व्यभिचारी समझकर तू उसकी निन्दा करता है। कृष्ण प्रेममूर्ति है, इसलिए मैं उसकी पूजा करता हूं। व्यभिचार-की निन्दा और प्रेमकी पूजामें विरोध नहीं है। व्यक्तिशः कृष्ण वैसा था, यह प्रश्न केवल ऐतिहासिक है। एकवाक्यताकी यह युक्ति सर्वत्र अविरोध-साधक होनी चाहिए।

५०२

अहंकारके पर्वतमेंसे न निकलते हुए और फलके समुद्रमें प्रवेश न करते हुए अनासक्तके कर्म मृगजलकी लहरोंको तरह अत्यन्त उत्साहसे होते रहते हैं।

५०३

भगवान्की इच्छासे ही कार्य होते हैं; लेकिन हमारी कृति भगवान्की इच्छाके लिए वाहनके समान है।

५०४

आकाश रुकावट नहीं करता, इसलिए कोई आकाशका अभाव-रूप मानते हैं। परन्तु आकाश यद्यपि रुकावट नहीं करता हैं, वह अवकाश देता है। इसलिए उसे भाव-रूप ही मानना चाहिए। वह रुकावट नहीं करता, इसका कारण उसका अभाव-रूपत्व नहीं, बल्कि अपरिच्छिन्नत्व है।

५०५

ईश्वर दोहरा अवतार धारणकर धर्मकी, तत्त्वकी, स्थापना करता है। (१) कालावतार और (२) पुरुषावतार। कालावतार अधर्मकी असंभावना बतलाता है, पुरुषावतार अधर्मकी अनिष्टता।

५०६

वस्तुमें आकार होता है, आकारमें वस्तु नहीं होती और वस्तुमें भी आकार (वस्तुसे अलग) नहीं होता, यही वास्तविक चमत्कार है।

५०७

बुद्धि और भावनाका समन्वय ही विवेक है।

५०८

क्षेत्रमें विद्यमान क्षेत्रज्ञको जो नहीं देख सकता, वह क्षेत्रको भी क्या देखता है ? चिरागकी ज्योति जिसने नहीं देखी, उसने चिराग क्या देखा ?

५०९

'सतत श्वासोच्छ्वास कर' यह विधि और 'सिरके बल मत चल' यह निषेध जिस कारण मेरे लिए लागू नहीं हैं, उसी कारण ज्ञानी पुरुषके लिए नैतिक विधि-निषेध लागू नहीं हैं। नैतिक विधेय ज्ञानी पुरुषके पास सहज ही होते हैं, नैतिक निषेध्य सहज ही नहीं होते।

५१०

ध्यान, विश्वके अपनेपर होनेवाले वारसे बचनेकी तात्कालिक

युक्ति है। ज्ञानसे हम विश्वपर वारकर उसे सदाके लिए घायल करते हैं। विश्व नष्ट करना ध्यानका रूप है। 'विश्व ही ब्रह्मरूप' देखना ज्ञानका रूप है।

५११

कर्तव्यत्रयी :

(१) सत्यनिष्ठा,
(२) धर्माचरणका प्रयत्न,
(३) हरिस्मरण-रूप स्वाध्याय।

५१२

सन्तोंसे भी सत्य श्रेष्ठ है। सत्यके अंश-मात्रसे सन्त उत्पन्न हुए हैं।

५१३

सांस बाहर निकालते समय एंजिनसे बाहर निकलने वाली भापकी आवाज़की तरह 'सो'की आवाज होती है, और सांस भीतर लेते समय गुम्बदमें होनेवाली आवाज़की तरह 'हम्' की आवाज़ होती है। इतने ध्वनि-साम्यपर ही 'सोऽहम्'की रचना श्वसन-क्रियापर नहीं हुई है। यह बाहरी चिह्न है। श्वसन-क्रियामें निहित आध्यात्मिक उद्देश्य ब्रह्माण्डमेंकी व्यापक भावनासे पिंडमेंकी संकुचित भावना धो डालना है। यह उद्देश्य 'सोऽहम्'से सूचित होता है, इसलिए श्वसन-क्रियापर 'सोऽहम्' की रचना है।

५१४

क्रोधी पुरुषके मौनसे उसका मौन सिद्ध नहीं होता, क्रोध सिद्ध होता है। क्रोधी पुरुषके वक्तृत्वसे उसका वक्तृत्व सिद्ध नहीं होता, क्रोध सिद्ध होता है। ज्ञानी पुरुषके कर्मसे उसका कर्म सिद्ध नहीं होता, ज्ञान सिद्ध होता है। ज्ञानी पुरुषके अकर्मसे उसका अकर्म सिद्ध नहीं होता, ज्ञान सिद्ध होता है।

५१५

ज्ञानी जिन कर्मोंको करता है उन्हें तो करता ही है, पर जिन्हें नहीं करता उन्हें भी करता है, इसलिए वह पूर्ण कर्मयोगी। ज्ञानी जिन कर्मोंको नहीं करता, उन्हें तो करता ही नहीं, पर जिन्हें करता है, उन्हें भी नहीं करता, इसलिए वह पूर्ण कर्मसंन्यासी।

५१६

बुद्धिस्थ विवेक इंद्रियोंमें भरनेका प्रयत्न तितिक्षा है।

५१७

अनेक क्षेत्रोंमेंसे एक ही नदी बहती है। वही दृष्टान्त आत्माके लिए है

५१८

शास्त्र ज्ञापक है, कारक नहीं है। यह शास्त्रकी मर्यादा है, और यही शास्त्रकी महिमा।

५१९

भक्तमें योग सहज होता है, क्योंकि हरिमयतामें निर्विषता आ ही जाती है।

५२०

वस्तुमें यदि उसके सारे गुण—दृष्ट, अदृष्ट—निकाल दिये जायं तो क्या शेष रह जाता है? एक कहता है 'शून्य'। दूसरा कहता है, 'विशेष'। तीसरा कहता है, 'अज्ञेय'। वेद कहता है, 'आत्मतत्त्व'।

५२१

योगका सार—

(१) यम, (२) नियम, (३) संयम।

५२२

व्यक्तिका 'अहम्' समष्टिके 'अहम्' में लीन होनेके बाद ही ईश्वरके अर्पण हो सकता है। पहले शुद्धि, फिर समर्पण।

५२३

ज्ञान बिल्कुल पुराना उत्तम। उपासना बिल्कुल अन्तिम उत्तम।

५२४

आहार्य अन्नकी वृत्ति-भेदके अनुसार त्रिविध परिणति होती है: लैंगिक, प्राणिक और आत्मिक।

५२५

अर्थ, समाज आदि सामाजिक शास्त्र नियामक नहीं, नियमित हैं। मैं उन्हें जो नियम लगाऊंगा, उसे स्वीकार करनेको वे बाध्य हैं।

५२६

पानी अपने-आप मुझे डुबा नहीं सकता। मैं पानीमें गिरूं, तभी डुबा सकता है। सो भी जबतक मैं तैरता रहूं, तबतक नहीं डुबा सकता, हैरे थकनेपर डुबा सकता है। सो भी मेरी 'देहबुद्धि' हो, तभी डुबा सकता है, अन्यथा नहीं डुबा सकता। इसका नाम है 'आत्म-स्वातंत्र्य'।

५२७

सन्त कौन है ? मुझमें विद्यमान विशिष्ट दोष मुझे जिसमें दिखाई नहीं देता, या अल्पमात्रमें दिखाई देता है, वह मेरे लिए सन्त है। इससे अधिक विचार करनेका मुझे कारण नहीं है।

५२८

'सत् ब्रह्म' सिद्ध होता है।
'चित् ब्रह्म' ध्यानमें आता है।
'आनंद ब्रह्म' आंखोंमें भरता है।
(१) विश्व, (२) जीव, और (३) सन्त।

५२९

पूर्वाचारोंका अनुकरण अपेक्षित नहीं है। अनुमनन अपेक्षित है।

५३०

अकर्तृत्वके भेद :

(१) कर्मत्व, (२) निमित्तत्व, और (३) साक्षित्व।

५३१

देहमें मोक्षकी शक्यता है, परन्तु संभव नहीं है।

५३२

कर्मयोगका यंत्र सख्त रखना चाहिए। घर्षणके डरसे ढील नहीं करनी चाहिए। घर्षणसे बचनेके लिए भक्तिका तेल देना चाहिए।

५३३

अधर्म, परधर्म, उपधर्म—इन तीन अपथोंसे बचकर साधकको स्वधर्मका आचरण करना चाहिए।

५३४

कर्मयोगमें काल-नियमन, कर्म-नियमन और कल्पना-नियमन आवश्यक है।

५३५

हेतु, परिणाम और स्वरूप, तीनों देखकर कर्मकी योग्यता ठहरानी होती है।

५३६

देहान्धतामें दो दोष हैं: (१) बहिर्मुखता, और (२) संकुचितता। बहिर्मुखताके कारण भीतरवाला भगवान् दुराता है। संकुचितताके कारण दुनिया दूर पड़ती है।

५३७

साधुत्वकी द्विरूप प्रवृत्ति होती है। कभी संग्राहक, कभी संशोधक। संग्राहक साधुत्व पूर्वानुभवोंका समन्वय करता है। संशोधक साधुत्व नवीन आविष्कार करता है।

५३८

शिक्षण याने सत्-संगति। शिक्षणकी इससे भिन्न व्याख्या मैं नहीं कर सकता।

५३९

आश्रममें एक कुत्ता था। वह प्रार्थनाका घंटा बजते ही नियमितरूपसे प्रार्थनामें आया करता था। उसने हमें नियमधर्म सिखाया। जिस दिन वह मरा, उस दिन आश्रमवासियोंने एक जूनका उपवास रखा।

५४०

मेरे धर्ममें उपासना ऐच्छिक है, और इसलिए अनिवार्य है।

५४१

ममत्व-बुद्धिका मर्मस्थान यह है कि उसकी बदौलत मनुष्य अपनी सार्वभौम सत्ता गंवा बैठता है।

५४२

उपासना याने ईश्वरके निकट बैठना ; अर्थात् जहां बैठे हों वहां ईश्वरको लाना।

५४३

पहले संसार कैसा है यह देखना और फिर उसपरसे सिद्धांत कायम करना—यह वैज्ञानिक विचार-पद्धति है। समाधिमें सिद्धांत स्फुरित हुआ, अब संसार वैसा होनेके लिए बाध्य ही है—यह आध्यात्मिक निर्विचार पद्धति है।

५४४

पुरुष दीपकके जैसा है। वीर्य तेलकी जगह है। प्राण बत्ती, और प्रज्ञा ज्योति। 'दीपकाय नमोनमः' !

५४५

साम्य कई हैं। पर उन सबमें ब्रह्मसाम्य अंतिम और श्रेष्ठ है।

५४६

प्रह्लादने नव-विधा भक्ति बतलाई है। लेकिन भक्ति

नवविधा याने नौ प्रकारकी ही होनी चाहिए, ऐसा कायदा नहीं है। नवविधा याने अनेक प्रकारकी, नई-नई उमंगों द्वारा प्रकट होनेवाली, ऐसा भाव मैं ग्रहण करता हूं।

५४७

'पश्यति'के बिना जिसे विश्वास नहीं होता, वह 'पशु'। 'मनुते'से जिसका काम हो जाता है, वह 'मनुष्य'।

५४८

अनुभवीका अनुभव—यदि वह प्रामाणिक हो—प्रमाण मानना चाहिए। परन्तु इसका यह मतलब नहीं होता कि अनुभवीका निष्कर्ष प्रमाण मानना चाहिए।

५४९

वास्तविक साधन एक ही—छटपटाहट।
वास्तविक सिद्धि एक ही—शान्ति।

५५०

साधक अग्निके समान हो—विवेक जिसका प्रकाश, वैराग्य जिसकी उष्णता।

५५१

परा—नेति।
पश्यन्ती—ॐ।
मध्यमा—राम।
वैखरी—सत्य।

५५२

मनमें जमा हुआ कूड़ा-करकट साफ कर मन खाली करना अपरिग्रहका काम है।

५५३

ब्रह्म केवल 'नेति' नहीं है। ब्रह्म 'नेति-नेति' है। जो सगुण भी नहीं और निर्गुण भी नहीं, वही वास्तविक निर्गुण।

५५४

वेदमें 'सहते' धातुके दो अर्थ हैं : (१) सहना और (२) जीतना। जो सहता है, वही जीतता है।

५५५

नम्रता याने लचीलापन। लचीलेपनमें तनावकी शक्ति है, जीतनेकी कला है और शौर्यकी पराकाष्ठा है।

५५६

ज्ञानकी चार भूमिकाएं :

(१) ज्ञान, (२) व्यवसाय,
(३) समाधि, (४) प्रज्ञा।

५५७

यज्ञके कारण मुख्यतः दैविक (याने प्राकृतिक) शक्तियोंका संतुलन रहता है। दानसे सामाजिक और तपसे मानसिक शक्तियोंका संतुलन रहता है।

५५८

देवी उषा, तू सात्त्विकता—मूर्ति है। रजोगुणी दिन और तमोगुणी रातकी कैंचीमें फंसे हुए मनका छुटकारा तेरे सिवा कौन करेगा?

५५९

सफलतासे नम्रता और असफलतासे उत्साह, यह सफलता और असफलताका कर्मयोगान्तर्गत विनियोग है।

५६०

'प्रियं ब्रह्म'—ईश्वर प्रेममय है—यह श्रुतिवचन है। भक्तिमार्गका बीजमंत्र यही है।

५६१

'सातत्य' कर्मयोगका कवच है। गीताके आठवें अध्यायका 'सातत्य' ही सार है, इसलिए मैं उस अध्यायको 'सातत्ययोग' नाम देता हूं।

५६२

वेदमें ईश्वरको 'सुरूप-कृत्नु' कहा है। सुन्दर सृष्टि बनाने वाला स्वयं कितना सुन्दर होगा !

५६३

अल्पश्रद्धावाले मनुष्यको लोग परमार्थ हज़म नहीं होने देते, यह लोगोंका उपकार है।

५६४

साधककी साधनामें ऐसी एक अवस्था आती है, जबकि उसे आगे विचार करनेके लिए किसी आलम्बनकी आवश्यकता होती है। उसके बिना हिम्मत टूट जाती है, निश्चय डगमगाने लगता है, बुद्धि साशंक हो जाती है। यह कसौटीका समय होता है।

५६५

सब दानोंमें अभय-दान श्रेष्ठ है। और वह देनेकी सामर्थ्य मुक्तके सिवा, अर्थात् ईश्वरके सिवा, किसीमें नहीं है।

५६६

स्वप्नजय दो तरह का होता है :

(१) सुस्वप्नता, (२) निःस्वप्नता।

सुषुप्तजय याने सुषुप्तिमें विचारोंका नित्यविकास।

५६७

उन्मनीमें सृष्टिकी पहचान नहीं। सहज स्थितिमें पहचान होकर भी पहचान नहीं। उन्मनी कालपरिच्छिन्न है। सहज-स्थिति नित्य है।

५६८

निंदा-स्तुतिकी बाद-बाकी करनेवाला मनुष्य अपने आप मुक्त हो जाता है।

५६९

अपरिग्रहका वास्तविक अर्थ देह-भाव नष्ट होना है, क्योंकि देह ही मुख्य परिग्रह है।

५७०

देहधारी पुरुषके द्वारा सारी प्रेमशक्ति इकट्ठी करके की गई सम्पूर्ण सेवाका अन्तिम फलित, 'अ-हिंसा', इस निषेधक शब्दसे व्यक्त होता है।

५७१

यदि ईश्वरकी दूसरी किसी वस्तुसे उपमा दी जा सके, तो वह वस्तु ही ईश्वर क्यों न होगी ? कारीगरकी उपमा चित्रसे कैसे दी जा सकेगी !

५७२

मुर्गेकी आवाज़ (१) तीव्र, (२) मृदु, (३) क्रमिक और (४) अनुकंपित होती है। जगानेवालेकी वृत्ति ऐसी ही होनी चाहिए।

५७३

वप्नमें विचार सूझा—मनुष्यको हमेशा दुग्धाहार करना चाहिए, याने 'सब आहारोंका दोहन लेना चाहिए।' अभी अर्थ पूरी तरह खुला नहीं है, लेकिन विचार टांक लेता हूं।

५७४

खुद 'बिगड़' कर दूसरोंको 'बिगाड़ना' सन्तोंका स्वभाव ही। उसमें भी तरुणोंको बिगाड़ना तो उनका अवतार-कार्य है।

५७५

भुक्ति और मुक्ति एक ही छड़ीके दो छोर हैं।

५७६

सभी प्रश्न हल करनेसे हल होनेवाले नहीं होते। कुछ प्रश्न छोड़ दिये कि हल हो जाते हैं।

५७७

जबतक आंखोंमें अद्वैत भिद नहीं जाता, तबतक सौंदर्यको कसौटीका भरोसा करनेसे काम नहीं चलेगा।

५७८

आरुरुक्षु जीवनमें—(१) उद्योग, (२) प्रयोग। आरूढ़ जीवनमें—(१) योग।

५७९

पहली चिनगारी लगनेके लिए युग बीत गये, लेकिन अब राख होनेके लिए त्रैराशिक लगानेकी ज़रूरत नहीं है।

५८०

चित्तकी एकाग्रता योगकी समाप्ति नहीं है। वहांसे योगका आरम्भ है।

५८१

ईश्वर—एकवचन।
ईश्वर और भक्त—द्विवचन।
ईश्वर, भक्त और सेवा—बहुवचन।

५८२

जिसे आंखके सामने ईश्वर दिखाई देता है, वह ज्ञानी हो गया। लेकिन ईश्वर मेरे पीछे खड़ा है, इतनी श्रद्धा स्थिर हो जावे, तो भी साधकके लिए बस है।

५८३

अग्निके लिए जंगल काटकर रास्ता नहीं बनाना पड़ता। वह खुद ही अपना रास्ता देख लेती है। भक्तके लिए परिस्थिति कभी प्रतिकूल नहीं होती।

५८४

आर्त भक्त ईश्वरका हृदय, जिज्ञासु ईश्वरकी बुद्धि, अर्थार्थी ईश्वरका हाथ और ज्ञानी ईश्वरका आत्मा है।

५८५

तत्त्वज्ञान धर्मके लिए बीज-रूप है। बीजमें जो अल्प भेद होता है वह फलमें बड़ा हो जाता है, इसलिए तत्त्वज्ञानमें सूक्ष्मता चाहिए।

५८६

चित्तकी छटपटाहट शान्त होनेके लिए भगवान्का प्रत्यक्ष स्पर्श चाहिए। जरा-सा भी अन्तर सहा नहीं जावेगा। होंठके बिल्कुल निकट लाये हुए पानीके प्यालेसे भी क्या तृषा शान्त होगी ?

५८७

प्रार्थनासे भी प्रार्थनामेंसे उत्पन्न होनेवाले वेगका महत्त्व अधिक है। इस वेगपरसे प्रार्थनाकी गहराई नापनी होती है।

५८८

वैराग्यमें भी, साभिलाष वैराग्य और निरभिलाष वैराग्य, ये दो भेद हैं। पहलेका आधार 'अनित्य'-भावना है और दूसरेका 'असुख'-भावना।

५८९

तपके भेद :

(१) अज्ञानमूलक,
(२) विषयमूलक,
(३) दंभमूलक,
(४) दुराग्रहमूलक,
(५) वैराग्यमूलक,
(६) प्रेममूलक और
(७) ज्ञानमूलक।

५९०

प्रतीक्षा और उपेक्षा पूरक भावनाएं हैं। साधकको यथासमय दोनों चाहिए।

५९१

व्यक्तिगत प्रार्थनासे मैं ईश्वरकी मदद प्राप्त करता हूं, सामुदायिक प्रार्थनासे सन्तोंकी।

५९२

अन्ध श्रद्धाके माने ?—'तर्कको ही भगवान् जानो' ('तर्क तो देव जाणावा'), इस श्रद्धाका नाम है अंध-श्रद्धा।

५९३

अर्थसे शब्द गहरा है। शब्दसे भाव गहरा है। भावसे अभाव।

५९४

मेरी सूत्रोपासनाकी चतु:सूत्री :

(१) सूत्र याने सूत,
(२) सूत्र याने नियम,
(३) सूत्र याने प्रेम,
(४) सूत्र याने आत्मा।

५९५

अपरिग्रहकी सिद्धिके लिए हिन्दू धर्मने होली-पूर्णिमाकी योजना की है।

५९६

कृति कायम रहे, लेकिन कर्ता कायम न रहे, यह भाग्य उपनिषद्‌के ऋषियोंका है। अहंकारका संपूर्ण नाश हुए बिना यह नहीं होगा।

५९७

दो बिन्दुओंके निश्चित होते ही सुरेखा [illegible] हो जाती है। जहां जीव और शिव, ये दो बिन्दु निर्धारित किये, परमार्थ-मार्ग तैयार हुआ।

५९८

दैववादमें पुरुषार्थके लिए अवकाश नहीं, इसलिए वह नहीं चाहिए। प्रयत्नवादमें निरहंकार-वृत्ति नहीं, इसलिए वह नहीं चाहिए। दैववाद में नम्रता है, इसलिए [illegible] चाहिए। प्रयत्नवादमें पराक्रम है, इसलिए वह चाहिए।

५९९

ज्ञान मंत्र है। कर्म तंत्र है। उपासना दोनोंको जोड़ देती है।

६००

जब तपकी अनी लगाते रहेंगे और जपके नक्कारे बजाते रहेंगे, तभी सुप्तात्मा जागेगा।

६०१

ईश्वरकी कला कितनी समझ पाया हूं! और जो 'मैं' जितनी कुछ समझा हूं, वह 'मैं' भी क्या ईश्वरकी कला ही नहीं हूं?

६०२

बंध-त्रय :

(१) आधारस्थानमें,
विषयका नियमन।

(२) नाभिस्थानमें,
आहारका नियमन।

(३) कंठस्थानमें,
वाणीका नियमन।

६०३

श्रीगणेशाय नमः माने श्रीगुणेशाय नमः।

६०४

मूर्तिपूजाका अवश्य विधान नहीं है, परन्तु मूर्ति-भंगका अवश्य निषेध है।

६०५

संन्यास और योग एक ही ज्ञानाग्निकी ज्वालाएं हैं।

६०६

सूर्य जहां जाता है, वहां प्रकाश ले जाता है—यही बात सेवककी होनी चाहिए। सेवक जिस क्षण जहां जो करता हो, उस क्षण वहां उस कार्यमें उसका सेवकत्व उसके साथ होना चाहिए।

६०७

श्वासोच्छ्वास की क्रिया शरीरके सारे रंध्रोंसे होती रहती है, लेकिन नाकसे विशेष रूपसे होती है। यदि सत्कर्मोंको रंध्रोंकी जगह मानें, त ो उपासना नाककी जगह है।

६०८

लोगोंके सूक्ष्म व्यवहारोंमें अनाहूत ध्यान देना सेवक को मना है।

६०९

जो मूर्ति सर्वोपलभ्य नहीं है, वह मूर्ति-पूजाके शास्त्रके अनुसार भगवान्‌की मूर्ति नहीं हो सकती।

६१०

अवतारोंकी जन्मभूमि, सन्तोंकी मृत्युभूमि और वीरोंकी कर्मभूमि धन्य है !

६११

मां ! बालकके कानोंमें एक ही आवाज़ गूजने दे—आत्मा ! आत्मा ! आत्मा !

६१२

सत्य व्यावहारिक अपूर्णांक नही, आध्यात्मिक पूर्णांक है।

६१३

निद्रा और जागृति, इन दोनोंके गुण मिलाकर 'समाधि' बनती है। दोनोंके दोष मिलाकर 'स्वप्न'।

६१४

गुण स्वत:प्रमाण। दोष सबूत मिलनेपर।

६१५

आत्मा 'न हन्यते', क्योंकि—'न हन्ति'।

६१६

मनुष्यका मुख्य धर्म कौन-सा है ?—मनष्यता।

६१७

यदि कोई, दरवाजा बन्द करके सोवे, तो सूर्य उसकी सेवा करनेके लिए उसके दरवाज़ेपर आकर खड़ा रहता है। दरवाज़ेको धक्का देकर भीतर नहीं घुसता। लेकिन ज़रा दरवाज़ा ढीला होते ही भीतर घुस जाता है। यह सेवककी मर्यादा और तत्परता है।

६१८

भिक्षा याने ईश्वरावलम्बन, अर्थात् समाजकी सद्भावनामें श्रद्धा, याने यदृच्छा-लाभ-संतोष, याने कर्त्तव्य-परायणता और फल-निरपेक्ष वृत्ति।

६१९

आंख सीधी ही देख सकती है। मनको आंखसे सीखना चाहिए।

६२०

यूक्लिड कहता है, दो बिन्दुओंके बीचका कम-से-कम अन्तर, याने उन्हें जोड़नेवाली सुरेखा। इसी अनुभवपर सत्य स्थित है।

६२१

मनोनिग्रह याने मानसिक शक्तियोंका संग्रह।

६२२

पिघलनेवाले भी थोड़े। लेकिन सुलगनेवाले उनसे भी थोड़े।

६२३

'नातिमानिता' दैवी संपत्तिका आखिरी गुण बतलाया गया है। इसके पहलेके सारे गुण प्राप्त हों तो भी अभिमान न होना, उसका अर्थ है।

६२४

कोई कहते हैं, जो कुएंमें नहीं है वह डोलमें कहांसे आवे? मैं कहता हूं, जो रस्सीमें नहीं है वह डोलमें आता ही है कि नहीं?

६२५

आत्मशुद्धिसे विजातीय द्रव्य या तो बाहर फेंका जाता है, अथवा सजातीय बनकर आत्मसात् होता है।

६२६

अहम्—निश्चित
इदम्—अनिश्चित
तत्—अनन्त

६२७

कायर और क्रूर एक ही।

६२८

उपयुक्ततावाद स्वयं अपनी उपयुक्तता मान ही लेता है!

६२९

नदीमें मैं भगवान्की बहती करुणा देखता हूं।

६३०

तात्त्विक—निर्गुण,
　　　　आकाशमें सिर।
सात्त्विक—सगुण,
　　　　ज़मीनपर पैर।

६३१

पारमार्थिक साधनाका आरंभ आत्म-विषादसे।
'विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।'

६३२

चित्त धोनेके लिए उपयोगी :
　　मृत्तिका—तपस्या
　　जल—हरिप्रेम

६३३

'तत्' और 'त्वम्' की संधि 'असि' ही उपासना है; वही ज्ञान है।

६३४

किसी भी सम्पूर्ण दर्शनके लिए नीचे लिखे तीन विचार आवश्यक हैं :

(१) कार्याकार्य-विचार
(२) कार्यकारण-विचार
(३) कार्यकर्तृ-विचार

६३५

ज्ञानी पुरुषके 'आभासिक' कर्मके हेतु

(१) लोक-संग्रह
(२) प्रारब्ध-क्षय
(३) साधना-दार्ढ्य
(४) सहजानन्द ।

६३६

'हाथका' अंगारा जानेके विषयमें कौन शिकायत करेगा ? संसार 'हाथका' अंगारा है, उसे छोड़कर 'भागते' परमार्थका पीछा बेशक करना चाहिए ।

(टिप्पणी—हिन्दीमें 'आधी छोड़ एकको धावै' जो कहावत है, उसी आशयकी मराठीमें कहावत है—'हातचें सोडून पलत्याच्या मागों लागणें' ।)

६३७

कोई 'माया' कहते हैं, कोई 'लीला' कहते हैं, कोई 'स्फूर्ति' कहते हैं । कुछ भी न कहें, तो क्या बुरा है ?

६३८

प्रतिपक्ष-भावनाकी अपेक्षा अ-भावना अधिक परिणाम-कारक है ।

६३९

आत्मचिन्तन याने आत्मशक्तिका चिन्तन । वस्तुतः आत्मा अचिन्त्य है ।

६४०

विनाश, विकासका अपरिहार्य अंग है। लेकिन वह प्रयोग हरएक अपने-आपपर ही करे।

६४१

प्रेमयुक्त अपरिचयमें मैं अपनी रक्षा देखता हूं।

६४२

'अहिंसादि प्रकृतिके गुण हैं या आत्माके?' अहिंसादि प्रकृतिके गुण नहीं हैं और आत्माके भी गुण नहीं हैं। वे आत्माके 'स्वभाव-धर्म' हैं।

६४३

अवतार विश्वमान्य होता है। साधुका साथ कुत्ता भी दे तो सौभाग्य कहना चाहिए।

६४४

कर्मयोग रजोगुण नहीं है। वह रजोगुणपर नुसखा है।

६४५

भौतिक ज्ञान यदि अज्ञान न हो, तो ऐश्वर्य होगा। लेकिन वह ज्ञान तो है ही नहीं।

६४६

एक पक्ष—संसार साधुओं के लिए नहीं है, इसलिए साधु अलग रहें!

दूसरा पक्ष—संसार साधुओंके लिए ही है, इसलिए साधु धीरज रखें!

(भावार्थ, संसार चाहे साधुओंके लिए हो या न हो, साधुओं-को साधुत्व कभी नहीं छोड़ना चाहिए।)

६४७

निर्दोष यज्ञकी यदि अशक्यता न होती, तो भक्तिकी आवश्यकता न होती।

६४८

तू कहता है—प्रयोगसे निश्चित हुआ, इसलिए पक्का है।
मैं कहता हूं—प्रयोगसे निश्चत हुआ, इसलिए कच्चा है।

६४९

'मुझे क्या उपयोग ?' न कहकर 'मेरा क्या उपयोग ?' कहना चाहिए, तभी उपयुक्ततावाद सार्थक होगा।

६५०

मेरी वृत्ति कभी संन्यासकी ओर दौड़ती है और कभी भक्तिकी ओर। वस्तुतः दोनोंका अर्थ एक ही है।

६५१

जगत्का कर्ता कौन ?
"मेरे जगत्का मैं ही कर्ता हूं। दूसरे जगत्का मुझे परिचय ही नहीं।"

६५२

प्रत्यक्षसे अंध बनी हुई बुद्धिको सनातन तत्त्व कैसे दिखाई दें!

६५३

विश्वमें आत्मा देखें और आत्मामें विश्व देखें—इसका नाम है स्व-परावलंबन।

६५४

(१) आत्मपरीक्षण (२) मौन
(३) कर्मयोग (४) प्रार्थना

६५५

सद्गुण स्वभावतः ही प्रवाही होते हैं। जमे हुए सद्गुण दुर्गुणकी योग्यता पाते हैं।

६५६

हिंसासे राज्य मिलेगा, लेकिन स्वराज्य नहीं मिलेगा। स्वराज्यके माने ही अहिंसा है।

६५७

जाति-धर्म, कुल-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि विहित हैं। जात्यभिमान, कुलाभिमान, राष्ट्राभिमान आदि निषिद्ध।

६५८

आत्म-त्रयी :

(१) पापात्मा, (२) पूतात्मा, (३) परमात्मा।

६५९

प्राप्तकर्म छोड़कर रुचिकर कर्म चुननेमें अस्वादव्रत भंग होता है।

६६०

जहां शक्ति टूट जाती है, शक्तिके उस अन्तिम बिन्दुको परमार्थमें 'यथाशक्ति' कहते हैं।

६६१

जड़-सृष्टि माया-नदीका विस्तार है। जीव-सृष्टि माया-नदीकी गहराई है।

६६२

(१) स्वरूप मत छोड़। (२) सिद्धांत मत छोड़। कम-से-कम (३) मर्यादा मत छोड़।

६६३

प्रत्याहार त्रिविध :

(१) इंद्रियोंको चिंतनके लिए समेट लें।
(२) भजनके लिए खोल दें।
(३) जीवनके लिए संयमसे काममें लावें।

६६४

भक्ति चार प्रकारकी :

(१) परा, (२) एका, (३) प्रिया, (४) पूज्या।

६६५

जो अद्वैत नित्यकर्म भी नहीं सह सकता, वही निषिद्ध भी निगलनेको तैयार होता है।

६६६

वैदिक शब्द सूक्ष्म अर्थके हैं। उनसे, आगे चलकर, लौकिक अर्थ निकले। सूक्ष्ममेंसे स्थूल, अव्यक्तमेंसे व्यक्त, यह सृष्टि-नियम है।

६६७

कृष्ण अपने-आपको साधारण ग्वालासरीखा मानता था। इतनाही नहीं, लोग भी उसे वैसा ही मानते थे और मानते हैं। इस दूसरी बातमें कृष्णके अमानित्वकी विशिष्टता है।

६६८

देह-बुद्धि छोड़! न्यापन-बुद्धि छोड़! रचना-बुद्धि छोड़!

६६९

खेतके ऊपर-ऊपरकी फसल किसानकी, परन्तु जमीनके भीतरके धनपर सत्ता सबकी। उसी तरह सामान्य विचारोंपर उनकी मातृभूमिकी सत्ता, लेकिन असामान्य विचारोंपर सारे जगतका स्वामित्व।

६७०

जगतमें दो महिमाएं काम कर रही हैं:

(१) सत्य-महिमा और (२) नाम-महिमा।

६७१

संसारमें नीति और भक्तिकी सत्ता रहे, यह धर्मका उद्देश्य है।

६७२

वेद-प्रामाण्य याने पूर्व-परंपराके लिए कृतज्ञता-बुद्धि और नवीन पराक्रमके लिए स्फूर्तिदायक स्वतन्त्रता।

६७३

काला कंबल मुझे प्रिय है। काले कंबलका सहवास याने श्रीकृष्णका सहवास।

६७४

कृष्णने गाय बचाई। बुद्धने बकरी बचानेका प्रयत्न किया।

६७५

'यथेच्छसि तथा कुरु' कहनेके बाद फिर 'मामेकं शरणं व्रज' है ही। स्वतन्त्रता संयमका वरण करे, इसमें स्वारस्य है।

६७६

भक्ति—नियत संयम। मुक्ति—स्वैर संयम।

६७७

कर्ममें अकर्म, ज्ञानका सगुण लक्षण है। अकर्ममें कर्म, ज्ञानका निर्गुण लक्षण है।

६७८

वाद चार हैं :

(१) दंभवाद, (२) अज्ञानवाद,
(३) भावार्थवाद, (४) यथार्थवाद।

६७९

मरते वक्त कंबलपर सुलाते हैं। जीवनमें यदि गरीबी न रही हो, तो कम-से कम मरणमें तो रहने दो!

६८०

साम्राज्यवाद याने संपत्ति, सत्ता और संस्कृतिकी आसक्ति।

६८१

'भक्त ऐसे जाणा जे देहीं उदास' (भक्त ऐसोंको जानो जो देहके प्रति उदासीन हैं,—तुकाराम) हरएक प्रश्नके एक देह होती है और एक आत्मा। भक्त देहके प्रति स्वाभाविक रूपसे ही उदासीन रहता है।

६८२

सद्गुरु—जिनका 'अस्तित्व' श्रद्धेय है।
चिद्गुरु—जिनका 'ज्ञान' परमार्थ-मंडलमें प्रतीत होता है।
जगद्गुरु—जिनका कार्य सबपर प्रकट है।

६८३

ईश्वरकी पैतृक सत्ता स्वीकार किये बिना जगत्‌में भ्रातृभाव स्थापित नहीं होगा ।

६८४

सन्त सूर्यके समान
खेतोंमें फसल लावेगा ।
सधारक अग्निके समान
भात पकावेगा ।

६८५

गोपियोंके लिए प्रेममूर्ति ।
द्रौपदीके लिए कारुण्यमूर्ति ।
अर्जुनके लिए ज्ञानमूर्ति ।
व्याधके लिए क्षमामूर्ति ।

६८६

उपासना तीन प्रकारकी :

(१) आत्मपरीक्षणपर—गंभीर। (२) हरिदर्शनपर—आनंदमयी । (३) तत्त्वचिन्तनपर—शान्त ।

६८७

उन्मनी—आध्यात्मिक नींद ।
प्रबुद्ध—आध्यात्मिक जागृति ।
दोनों एक-दूसरीको जांचनेकी अवस्थाएं हैं ।

६८८

सामर्थ्य है सत्य-निष्ठाका ।
होगा जिसके पास उसका ।
इसीका नाम 'भगवानका ।
अधिष्ठान' !

(समर्थ रामदासस्वामीकी नीचे की उक्तिको लक्ष्य करके यह विचार लिखा गया है :

सामर्थ्य आहे चळवळेचें ।
जो जो करील तयाचें ।
परंतु तेथें भगवंताचें ।
अधिष्ठान पाहिजे ॥)

६८९

ऋषियोंका दर्शन
तत्त्ववेत्ताओंका ज्ञान
सन्तोंका अनुभव

६९०

"आप रज्जु-सर्पके समान 'विवर्त' मानते हैं या 'सुवर्ण-कंकण'के समान 'परिणाम' मानते हैं ?" "मैं 'सुवर्ण-कंकण' के समान 'विवर्त' मानता हूं।"

६९१

'बुद्धि'-प्रामाण्य चाहिए, 'अहं'-प्रामाण्य नहीं।

६९२

स्नान करते समय 'सहस्रशीर्ष' कहनेकी प्रथा है। उस वक्त यह भावना करनी चाहिए कि हजारों जलबिन्दुओंके रूपमें सहस्रशीर्ष परमात्मा हजारों हाथोंसे मुझे स्पर्श कर रहा है जिससे जीव-भाव धुल जायगा।

६९३

पिपीलिका उत्तम गुरु ।
विहंगम उत्तम शिष्य ।

६९४

(१) एकाग्र अद्वैत
जो एकसाधननिष्ठ होनेके कारण अन्य साधनकी कल्पना नहीं कर सकता।

(२) समंजस अद्वैत
जो एकसाधननिष्ठ होता हुआ अन्य साधनोंको मानता है।
(३) सारग्राही अद्वैत
जो साधनसमुच्चयनिष्ठ होता है।
(४) आत्यन्तिक अद्वैत
जो साधन-मात्रमें अद्वैत अनुभव करता है।

६९५

जीवन विचार, अनुभव और श्रद्धा का घनफल है।

६९६

संत गायके समान वत्सल हैं, इसलिए स्वयं तत्त्वज्ञानकी कड़बी पचाकर संसारको भक्ति-नीतिका दूध पिलाया करते हैं।

६९७

उत्साह-वृद्धि, विकार-शमन और ज्ञान-परिपोष—स्वच्छ निद्राके ये तीन लक्षण हैं।

६९८

अंकुर कब निकलना चाहिए, इसका ज्ञान बोनेवालेके हाथकी अपेक्षा गेहूंको अधिक होता है। फलकी चिन्ता कर्ताको नहीं करनी चाहिए। वह करनेके लिए कर्म समर्थ है।

६९९

शिष्टता—अनुकरणीय।
विशिष्टता—चिन्तनीय।
अशिष्टता—परिहार्य।

७००

वेद स्वभावसे बोलते हैं।
गुरु उपदेशार्थ बोलते हैं।
मैं जपार्थ बोलता

७०१

सदा असफलता होती है, इसमें आश्चर्य नहीं। सफलता याने समाप्ति। वह हमेशा कैसे हो सकती है! वह एक ही दफ़ा आनेवाली है।

७०२

अहिंसाका अर्थ न तो ढीली-ढाली सहनशीलता है और न असह्य नियमन।

७०३

दान परिग्रहका प्रायश्चित्त है, इसलिए उसमें अभिमानके लिए अवकाश नहीं।

७०४

अस्तेय पद्धतिका नियमन करता है, अपरिग्रह प्रमाणका। फलतः दोनों एक ही हैं।

७०५

ईश्वरी योजनामें विद्यमान अपरिग्रहका श्वासोच्छ्वास उत्कृष्ट उदाहरण है।

७०६

ईश्वरार्पण
भूतसेवा
तप
नियतभोग
त्याग

} यज्ञ

७०७

पुण्यवान् ईश्वरके पास जाता है, क्योंकि वह पुण्यवान् है। पापी ईश्वरके पास जा सकता है, क्योंकि वह पापी है।

७०८

एक बार स्वप्नमें शेरने मेरा पीछा किया। मैं भागने लगा। साधु भी मेरे साथ भागने लगा। थोड़ी देरमें प्रार्थनाकी जगह

आई। शेर पीछा कर ही रहा था। साधु प्रार्थनाकी जगह बैठ गया और मुझसे कहने लगा, "अब आगे मैं नहीं भागूंगा। तेरी तू सम्हाल ले।" मैं भी कांपते-कांपते लेकिन निश्चयसे उसके पास बैठा। इतनेमें शेर गायब हो गया और स्वप्न भी गया।

७०९

निर्गुण-सगुण
उपास्य-उपासक
मैं-तू
सज्जन-दुर्जन
जड़-चेतन

ये पांच भेद लोप होनेपर संपूर्ण अद्वैत सिद्ध होता है।

७१०

इच्छा, प्रयत्न, कृपा प्राप्ति।

७११

कर्म > अकर्म
परन्तु, ज्ञान + कर्म = ज्ञान + अकर्म
∴ ज्ञान = ∞ (अनन्त)

७१२

वेदान्तके समान अनुभव नहीं।
गणितके समान शास्त्र नहीं।
रसोईके समान कला नहीं।

७१३

गुरु अव्यक्त-मूर्ति है। चाहे शब्द-मूर्ति कह लीजिये।

७१४

देहासक्ति, ज्ञानासक्ति, दयासक्ति।

७१५

चित्तशुद्धिकारकके सिवा और किसी भी रूपमें कर्मकी तरफ देखना मुझे नहीं सुहाता।

७१६

हवा अपने आप मेरे कमरेमें आती है। सूर्य अपने-आप मेरे कमरेमें प्रवेश करता है। ईश्वर भी उसी प्रकार अपने आप मिलनेवाला है। बस, मेरा कमरा खुला भर रहने दो!

७१७

ईश्वरके सौंदर्य, सामर्थ्य, ज्ञान, पावित्र्य, प्रेमका निरंतर स्मरण करें!

७१८

'महत्त्वाकांक्षा'—
कितनी अल्प वस्तु है यह!

७१९

(१) बुद्धिकी स्थिरता, (२) निष्काम सेवा, (३) इंद्रियनिग्रह, (४) भक्तिकी हार्दिकता, (५) आत्मज्ञान, (६) दैवी संपत्तिका विकास, और (७) संन्यास—

इन सात अंगोंसे धर्म पूर्ण होता है।

७२०

खुली हवामें सच्चिदानन्दसे भेंट होती है।

आकाश—सत्
वायु—चित्
तेज—आनन्द

७२१

जगत् भिन्न-भिन्न रंगोंका बना है। जगत्में विद्यमान भिन्न-भिन्न वस्तुएं याने इन भिन्न-भिन्न रंगोंके गहरे या पतले भेद।

७२२

बुद्धि अमलमें लाना ही बुद्धि 'चलाना' है।

७२३

भक्ति मां और योग बाप—ऐसा बनाव बन गया तो हम

बालकोंमें ज्ञान सहज ही उगेगा। स्त्री-पुरुषोंके शिक्षणकी दिशा भी इसपरसे ध्यानमें आती है।

७२४

ब्रह्मचारी याने स्त्री और पुरुष एकस्थ।

७२५

बुद्धि श्रद्धाकी तरह दुर्बल नहीं है।
बुद्धि श्रद्धाके बराबर बलवान् नहीं है।

७२६

अति दूर देखना और बिलकुल न देखना—ये ठोकर लगने के दो उत्तम उपाय हैं।

७२७

ज्ञानसे दृष्टि श्रेष्ठ।

७२८

अभय दो प्रकारसे है—हमारा किसीसे न डरना, और हमसे किसीका न डरना। यह दोहरा अभय मैं आकाशमें देखता हूं। इसका अर्थ यह होता है कि मुझे आकाशकी तरह शून्य बनना चाहिए।

७२९

कौनसा तारा ऊंचा और कौनसा नीचा, इसमें जितना अर्थ है (अर्थात् बिलकुल नहीं) उतना ही अर्थ कौनसा आदमी ऊँचा और कौनसा नीच, इसमें भी है। दोनों, एक ही आकाशमें अलग-अलग जगह हैं, इतना ही कहना चाहिए।

७३०

वस्तुका स्वरूप क्षण-क्षण बदलता दिखाई देता है—इसका वस्तु मिथ्या है, यह अर्थ नहीं है, वरन् वैभवशाली है, ऐसा अर्थ समझना चाहिए।

७३१

वासना नष्ट होनेपर सृष्टि दोनों अर्थोंमें 'अ-मूल्य' हो जाती है।

७३२

वैराग्यमें वैद्वेष्य गृहीत है। (वैद्वेष्य=द्वेष से रहितता)

७३३

(१) श्रुति (तत्त्व-सिद्धान्त)
(२) स्मृति (सामाजिक धारा)
(३) पुराण (पूर्व संतोंके चरित्र)
(४) भक्ति (उपासना)
(५) नीति (अहिंसा-सत्यादि सिद्ध पंथ)
यह सब धर्मोंका पंचांग है।

७३४

व्युत्पत्ति—व्याकरणका विषय है।
निरुक्ति—आध्यात्मिक शास्त्र है।

७३५

सेवा व्यक्तिकी ; भक्ति समाजकी।

७३६

मनुष्य—घर
गुण—दरवाजा
दोष—दीवारें